ताल-वाद्य शास्त्र

(एक विवेचन)

(स्नातकोत्तर कक्षाओं के लिये उपयोगी)

लेखक

मनोहर भालचन्द्रराव मराठे

तबला विभाग

शासकीय माधव संगीत महाविद्यालय

ग्वालियर (म. प्र.)

प्रकाशक

शर्मा पुस्तक सदन

पाटनकर बाजार लश्कर ग्वालियर (म. प्र.)

प्रकाशक :

शर्मा पुस्तक सदन
पाटनकर बाजार
लश्कर ग्वालियर (म प्र)

मूल्य :–
छात्र संस्करण 110 रु०
पुस्तकालय संस्करण 150 रु०

मुद्रक :

दिनेश प्रिंटर्स
जीवाजीगंज, लश्कर
ग्वालियर (म प्र)

मां सरस्वती के चरणों में समर्पित

प्रकाशक :

शर्मा पुस्तक सदन
पाटनकर बाजार
लश्कर ग्वालियर (म प्र)

मूल्य :–
छात्र संस्करण 110 रु०
पुस्तकालय संस्करण 150 रु०

मुद्रक :

दिनेश प्रिंटर्स
जीवाजीगंज, लश्कर
ग्वालियर (म प्र)

मां सरस्वती के चरणों में समर्पित

आशीर्वाद

श्री मनोहर भालचन्द्रराव मराठे को मैं बहुत समय से जानता हूँ। इनकी उच्च शिक्षा एवं वर्षों के अध्यापन अनुभव के आधार पर इनके द्वारा लिखी गई 'ताल वाद्य शास्त्र" नामक प्रस्तुत पुस्तक में ताल वाद्यों के संदर्भ में उनके इतिहास, विकास, वादन पद्धति, वाद्य वर्णन, ताल पद्धति, छंद रस भाव का संगीत में संबंध आदि का शास्त्रोक्त सुसंगत और प्रमाणिक विवेचन किया गया है।

मेरी दृष्टि से ताल वाद्य विषय के जिज्ञासु तथा विद्यार्थी सभी के लिये यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी।

मैं मनोहर भालचन्द्रराव मराठे को ताल वाद्य विषय पर इस उत्तम पुस्तक के लेखन के लिये आशीर्वाद देते हुए उनके सफलता की शुभ कामना करता हूँ।

ग्वालियर—14 1 1991

बालासाहेब पूछवाले

बालासाहेब पूछवाले 'संगीताचार्य"
भूतपूर्व प्राचार्य
शासकीय माधव संगीत महाविद्यालय
ग्वालियर (म. प्र.)

दो शब्द

ताल संगीत का एक कारक तत्व है और तबला हिन्दुस्तानी संगीत मे गायन और वादन दोनो म एक प्रमुख अनुपग। दुर्भाग्य से संगीत मे चिन्तन और शास्त्र रचना की लम्बी परपरा इस शताब्दी मे अवरुद्ध सी हो गयी है। शास्त्रीय संगीत मे अनेक परिवर्तन हुए है पर उनका आलोचनात्मक लेखा-जोखा करने की भाषा हम अब तक विकसित नही कर पाय है।

इस पुस्तक म तबले को लेकर विशद सामग्री एकत्र और विन्यस्त की गयी है। इस तरह की सामग्री एक साथ पाना निश्चय ही दुलभ है। यह तबला के अध्ययन अध्यापन के अलावा इस तालवाद्य की स्थिति और सम्भावनाओ को समझने मे सामान्य रसिको लिए भी उपयोगी साबित होगी।

सैद्धांतिक और व्यवहारिक दोनो ही पक्षो को इस पुस्तक मे विस्तार से विवेचित किया गया है। यह समग्रता निश्चय ही मूल्यवान् है।

ग्वालियर
1 जनवरी 1991

अशोक वाजपेयी

प्रस्तावना

भारतीय संगीत मे अतिप्राचीन काल से ही ताल वाद्यो का विशिष्ट स्थान रहा है। वैदिक काल से लेकर वर्तमान काल तक ताल वाद्य एवं उनके उपयोग मे परिवर्तन हुए है।

भारतीय संगीत के प्राचीन काल से वर्तमान काल तक के ताल वाद्यो के संदर्भ मे कई ग्रंथ प्रकाशित हुए है जिनमे कुछ निश्चित प्रकरणो का ही विवेचन किया गया है। अनेक प्रकरणो का संकलन एवं शास्त्रोक्त विवेचन एक ही पुस्तक मे उपलब्ध नही होता है।

श्री मनोहर भालचंद्रराव मराठे द्वारा लिखित 'ताल-वाद्य शास्त्र' एक ऐसी पुस्तक है जिसमे अतिप्राचीन काल से वर्तमान काल तक के ताल वाद्यो के संदर्भ मे-वाद्य वर्णन, वर्गीकरण, संगीत ग्रंथकार एवं उनके ग्रंथ, ताल एवं ताल पद्धति का विकास, ताल वाद्यो का वादन, छंद एवं तालो का मात्रा रस भाव एवं तालो का संबंध ताल वाद्यो के घराने, विकृष्ट तालो की उपयोगिता, सांगितिक ध्वनि का वैज्ञानिक विश्लेषण तथा कुछ निबंध आदि का संक्षिप्त किंतु शास्त्रोक्त विवेचन किया गया है।

ताल वाद्य विषय की शास्त्रोक्त आधार पर लिखित यह पुस्तक विद्यार्थी, शिक्षक जिज्ञासु सभी के लिये उपयोगी सिद्ध होगी ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है।

CPSingh
(राजा छत्रपति सिंह)

मृदंग भास्कर एवं मृदंगाचार्य
बिजना, झांसी [उ. प्र.]

विषय-सूची

तबले का उद्गम, विकास एवं ऐतिहासिक तथ्य

भारतीय संगीत में वाद्यों को मुख्य रूप से चार विभागों में वर्गीकृत किया गया है :—

(1) ततुवाद्य (2) अवनद्ध वाद्य (3) घन वाद्य (4) सुषिर वाद्य ।

तबला यह वाद्य अवनद्ध वाद्यों के श्रेणी में आता है । अवनद्ध वाद्य संगीत में लय धारणा के काम में आते है । अतः इन्हें तालवाद्य भी कहा जाता है ताल वाद्य होने के कारण इसका संबंध लय से आता है । अतः तबला वाद्य के उद्गम का अभ्यास करते समय हमें लय तथा मानव जाति को लय ज्ञान के संदर्भ में जानना आवश्यक हो जाता है । संक्षिप्त रूप में लय की परिभाषा हम 'समय के समान गति को लय कहते हैं' इस प्रकार कर सकते है । मानव जाति को लय का बोध होने के बाद ही लय वाद्यों का निर्माण संभव हुआ है ।

मानव को लय का ज्ञान कराने में स्वयं प्रकृति की प्रमुख भूमिका रही होगी क्योंकि प्रकृति स्वयं लयबद्ध है । जैसे—नक्षत्रों, तारों का नियमित रूप से भ्रमण, दिन रात का होना आदि ।

प्रकृतिदत्त लय में एक आकर्षण होता है जिससे मनुष्य लय के संबंध में जानकारी हासिल करने के लिए उत्साहित हुआ होगा । लय का आकर्षण मानव हृदय को आह्लादित (आनन्दित) करने का कारण बना तथा मानव ने भिन्न भिन्न प्रकार व साधना से गति को कायम कर लय प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की ।

मन को आल्हादित करने के लिये आनन्द व्यक्त करने के लिये या विशिष्ट प्रकार की सूचनायें देने के लिये मनुष्य ने सर्वप्रथम अपने शरीर के अंगों का प्रयोग कर (जैसे ताली बजाकर या भूमि पर पैर मारकर) लय को कायम करना सीखा । आज भी हम देखते हैं कि दक्षिण संगीत पद्धति में (तालक्रिया) ताली धारण करने का प्रघात है ।

हम जानते है कि मनुष्य का यह स्वभाव धर्म है कि वह प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़ने का प्रयास करता रहा है । हाथों से ताली बजाकर या जमीन पर पैर मारकर गति तथा लय कायम करने के बाद मनुष्य कालांतर से हाथ से किसी अन्य वस्तु पर प्रहार करके या वस्तुओं को दो हाथों में लेकर उनके टकराव से लय धारण करके आनंद लेने लगा तथा भिन्न भिन्न प्रकार की गति एवं लय धारणा से अवगत

अलग संदेश देनेमें सक्षम रहा। अत हम निष्कर्ष यह कह सकते है कि स्वर ज्ञान के पूर्व ही मनुष्य ने लय ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

मनुष्य के ऐतिहासिक विकास के साथ साथ उसने आनंद प्राप्ति के लिये या दुख प्रगट करने के लिये स्वर ज्ञान प्राप्त किया होगा। ज्ञान ज्ञान उसने गायन, नृत्य व वाद्य कला भी सीख ली होगी। विभिन्न प्रकार के वाद्यो का निर्माण करना भी उसने सीखा होगा। उस काल मे मानव बुद्धि का इतना विकास नही हुआ था जितना आज हुआ है। अत उस समय के वाद्य भी विशेषकर ताल वाद्य भी) आधुनिक युग के समान नही रहे होंगे। इतिहास पूर्व काल में जो लयवाद्य थे व साधारणत नरमुंड, पत्थर, हड्डिया आदि के बने होते थे। प्राचीन हाल स्टट काल से लेटिन काल तक जो वाद्य प्राप्त हुए हैं उनमें, कंकड पत्थर डाले जाते थे तथा उन्हे हिलाकर उनकी आवाज के आधार पर उनका उपयोग लय धारणा के लिये किया जाता था। मोरे विया में झांझ के समान दानों वाला एक लय वाद्य प्राप्त हुआ है जिसको रगडकर बजाने के लिए हड्डी का एक टुकडा भी है जिससे रगडकर उसे बजाया जाता था। जानवरों के चमडों का उपयोग भी लय वाद्यों के रूप में किया जाता था। धीरे धीरे मनुष्य ने मिट्टी के झुनझुने बनाना भी सीखा। मिट्टी के बर्तन बनाकर उसमे कंकड पत्थर डालकर उसके हिलाने से उत्पन्न होने वाले ध्वनी से लय की धारणा करना सीखा।

मनुष्य के बुद्धि के विकास के साथ साथ उसने यह जाना कि इस प्रकार वाद्यो से उत्पन्न होने वाली ध्वनि क्षण भंगुर होती है। उसमे स्थिरता नही होती अत उसने इस प्रकार की ध्वनि जो कुछ देर तक कायम रह सके तथा ऊंची और बडी भी हो उत्पन्न करने की तरफ अपना ध्यान लगाया और इस लगन के साथ साथ उसने चमडे को साफ करके, उसे तानकर उसपर प्रहार कर इच्छित ध्वनि को प्राप्त किया। जमीन खोदकर बने गड्ढे पर साफ किये चमडे का तानकर बिठाया गया तथा उसे बजाने पर ऊंची बडी तथा स्थिर ध्वनी को प्राप्त किया। उसने यह जाना कि इस प्रकार की ध्वनि अधिक आनन्द प्राप्त करा सकती है, अधिक दूर तक सुनी जा सकती है तथा उससे लय भी प्राप्त की जा सकती है। धीरे धीरे उसने मिट्टी के कटोरे समान बर्तनों पर या लकडी के खोकले भागो पर चमड़ा मढकर (चमडायुक्त) ताल वाद्यो का निर्माण करना सीखा। शायद मिट्टी के बने अंग पर चमडा मढे वाद्य का नामाकरण मदंग के रूप में किया गया होगा।

भारतीय संगीत के आदि ग्रंथ 'नाट्य शास्त्र' मे तथा उसी प्रकार शारंगदेव के 'संगीत रत्नाकर' ग्रंथ में मृदंग का उल्लेख मिलता है।

तबला वाद्य की उत्पत्ति

वर्तमान काल मे उत्तर भारतीय संगीत में प्रयुक्त होने वाले वाद्यो मे तबले का स्थान शीर्ष स्थान पर है तथापि तबला वाद्य की उत्पत्ति कब हुई, किसने की तथा कैसे हुई इस संदर्भ मे विश्वसनीय जानकारी प्राप्त नहीं हो पाई है। जो ज्ञान

कारी है उस संदर्भ मे सभी संगीत शास्त्री एक मत नहीं है किंतु अन्य जानकारी न होने से उसे ही मान्यता प्राप्त हो चुकी है। वैसे यह कहना कि तबला वाद्य का जन्म भारत वर्ष में ही हुआ है कठिन है कारण यह कि इस प्रकार के कई वाद्यो का एव शब्दो का वर्णन अन्य देशों के प्राचीन ग्रंथों मे उपलब्ध है। प्राचीन पर्शियन, सुमेरियन तथा बेबिलोनियन वाङमय में ऐसे कई सांगितिक ताल वाद्यो का वर्णन प्राप्त हुआ है जिससे यह भ्रम होता है कि क्या तबला वाद्य का निर्माण अन्य देशों में तो नहीं हुआ। जिन वाद्यों का उल्लेख उपरोक्त वाङमय म प्राप्त हुआ है उनकी संक्षिप्त जानकारी इस प्रकार है —

(1) तबल बलादि-खोखले लकड़ी पर चमड़ा मढ़ा। अर्ध गोलाकार नक्कारखान वाद्य के साथ जोड़ी बनाकर बजाया जाता था। इन दोनों भागों को लकड़ी से बजाया जाता था तथा इसे गधे या घोड़े की पीठ पर दोनों भागों में लटकाकर बजाते थे।

(2) तबल टर्की-यह वाद्य आज के तबला जोड़ी के समान होता था। इसका एक भाग लकड़ी को एक तरफ से खोखला करके लंब रूप मे तथा दूसरा डग्गे के समान अर्ध गोलाकार लकड़ी को खोखला करके बनता था। दोनों पर चमड़ी मढ़ी रहती थी। इस वाद्य का आकार भी तबल के अनुसार ही होता था।

(3) तबल जंग-यह दो अर्ध गोलाकार (1 छोटा, 1 बड़ा) नगाड़े समान होता था जिस पर चमड़ा मढ़ा रहता था। इसे डंडियों स बजाकर इसका उपयोग युद्ध के समय किया जाता था।

(4) तबला शामी अन्य वाद्ये के अनुसार ऊंची ध्वनी
तबल मिर्गी अन्य वाद्ये के समान खज की ध्वनी।
तबल शामी पर बारीक चमड़ा मढ़ा होकर उसे बारीक छड़ी से तथा तबल मिर्गीपर मोटा चमड़ा मढ़ा होकर उसे मोटी छड़ से बजाया जाता था।

(5) तबल अल शाबिग यह वाद्य तबल बलादि, तबल टर्की के अनुसार ही किंतु उससे काफी बड़े आकार का होता था जिसे घोड़े की पीठ पर रखकर बजाते थे।

उपरोक्त सभी वाद्यों में लकड़ी तथा धातु का प्रयोग होता था। इनके मुख पर चमड़ा मढ़ा रहता था। तबला वाद्य से जुड़े इन वाद्यों पर कहीं भी स्याही लगाये जाने का उल्लेख नहीं है। 13 वी सदी म सुल्तान घियासुद्दीन बल्बन के दरबारी कलावत कव्वालो के साथ संगत करते समय तबला डग्गे के समान जोड़ी युक्त वाद्य का उपयोग करते थे किंतु उन वाद्यों पर स्याही लगाये जाने का उल्लेख नहीं है। इस वाद्य के प्रयोग का उल्लेख इतिहासकार फरिश्ता इमाम ने किया है।

तबला यह वाद्य दो भागों का मिलकर बना वाद्य है। तबला (दाया) और डग्गा (बाया) ये उसके दो भाग है। साधारणत तबला (दाया) दायें हाथ स

तथा बाया बाये हाथ से बजाया जाता है। इनका सपूर्ण वर्णन यहां करना अनावश्यक होने से संक्षिप्त जानकारी दी जा रही है। लकड़ी के खोड को एक तरफ से खोखला करके ऊपरी भाग चौड़ाई में कम तथा निचला भाग चौड़ाई में अधिक होता है। ऊचाई लगभग 10 ' व 12" होती है। खोखले भाग पर पुड़ी (चमड़ी की) मढ़ी जाती है जिसे चमड़े के बाध्दी से या सूत की डोरी से कसा जाता है। तबला जोड़ी स्वर के अनुसार अलग अलग आकार की होती है। तबला जोड़ी के दाये का उपयोग निश्चित स्वर के तार स्वर के लिये तथा बाय का उपयोग खज स्वर (BASE) के लिये किया जाता है।

तबला शब्द की व्युत्पत्ती तथा वाद्य की उत्पत्ति के सबध मे अनेक धार णायें बनी है। पखावज अथवा मृदग के दो भाग करके उसे खड़ा करके बजाने पर वह (वाद्य) बोला इस धारणा के अनुसार तब तोडा तब (भी) बोला अपभ्रश होकर तबला शब्द की व्युत्पत्ती हुई ऐसी धारणा है किन्तु यह धारणा तर्क सगत नही लगती है। पखावज अथवा मृदग की वादन शैली और तबले की वादन शैली मे जमीन आसमान का अतर है। तबला यह वाद्य अल्लाउद्दीन खिलजी के शासन काल से अस्तित्व मे है इसमे कोई मतभेद नही है किन्तु उसके पूर्व यह कहा था इस वाद्य को तबला यह नाम कैसा प्राप्त हुआ इस बारे मे मतभेद है। आठवी सदी से ही इस्लाम सस्कृति प्रगति पर थी। सगीत कला का प्रसार भी इस समय हुआ। भारत वर्ष मे सिन्धु घाटी तक इस सस्कृति का प्रभाव था। इस काल म पारसी भाषा काफी समृद्ध हुई। अरब तुर्क पर्शियन सीरियन आदि लोगों म सगीतकला का आदान प्रदान हुआ। इसी आदान प्रदान की फलस्वरूप सगीत के अतगत तबला वाद्य का भारतवर्ष में प्रवेश हुआ होगा। सीरिया मे अति प्राचीन काल मे मेसोपोटेमियन सस्कृति का विकास हुआ था। इस समय के सीरियन भाषा मे तबला शब्द का स्पष्ट उल्लेख है। हम ऐसा कह सकते है कि मुगलों के भारत मे अपने पर जमाने के साथ साथ तबला यह वाद्य भारत मे आया होगा किन्तु भारतीय सगीत म उसका प्रचार व प्रसार शीघ्र न हो सका होगा। यह भी सभव है कि उस तबला वाद्य में आवश्यक फेरबदल करके वतमान तबले का स्वरुप भारतीय सगीत में आया हो। उर्दू भाषा में तथा पारसी भाषा म तबले का अथ एस वाद्य से है जिसका मुख ऊपर की ओर हो तथा उसका ऊपरी भाग सपाट हो। शायद इसी आधार पर वाद्य का नामकरण तबला किया गया हो।

13 वी और 14 वी शताब्दी के काल को उत्तर भारतीय सगीत के आधुनिक वाद्यों के विकास का स्वर्ण युग कहा जाये तो अतिशयोक्ति नहीं होगी इस काल के सुल्तानों मे घियासुद्दीन बल्बन जलालुद्दीन, अल्लाउद्दीन खिलजी घियासुद्दी तुगलक सगीत के प्रेमी थे। अल्लाउद्दीन खिलजी के शासन काल मे उनके दरबार में कई कलावत थे। ऐसा कहते है कि अल्लाउद्दीन खिलजी ने दक्षिण के देवगिरी राज्य को जीतकर वहां के प्रसिद्ध गायक वादकों को अपने साथ दिल्ली लाया। उस समय उत्तर भारत म मृदग (पखावज)तथा दक्षिण भारत में मृदगम

का संगीत के ताल वाद्यों मे दोष स्थान था । गुस्से मे मृदंग (पखावज) को तोड़ डाला गया होगा तथा तालवादकों को तबला वाद्य बजाने को मजबूर किया गया होगा। पूर्व मे ही कहा जा चुका है कि मृदंग (पखावज) के दो भाग करके तबले के उत्पत्ति की कल्पना करना ही संभव नहीं है।

13 वी सदी मे गियासुद्दीन बल्बन के दरबारी कलावंत जिस वाद्य का उपयोग करते थे उसी वाद्य को 14 वी सदी मे अलाउद्दीन खिलजी के दरबारी कलावंतों ने सुधारणा करके आज के तबले के स्वरूप को जन्म दिया हो यह संभव है। इसी काल में (13 वी 14 वी सदी) तबले के आकार, प्रकार रचना आदि मे सुधार हुआ। इस समय तक स्याही युक्त ताल वाद्य मृदंग (पखावज) ही भारत वर्ष मे प्रचलित था। तबले पर स्याही लगाना उसे भिन्न भिन्न स्वरों के अनुसार बनाना, नाम स्वर स्थापित करना आदि के तरफ मुगल बादशाहों का तथा उनके दरबारी कलाकारों का ध्यान गया होगा। अल्लाउद्दीन खिलजी के शासन काल (ई 1296 से 1316) में उनके दरबार में अमीर खुसरो नाम के उच्च कोटि के कलाकार थे। इन्होंने पश्चिमा, ईरान, अफगान में प्रचलित संगीत को भारतीय संगीत से जोड़ने का महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने भारतीय संगीत में कई नवीन वाद्यों का समावेश किया तथा कुछ वाद्यों में सुधारणा की। मुगल शासकों ने अपने लेखन में अमीर खुसरो को तबले का अविष्कारक बताया है। यद्यपि तबला इस शब्द का उल्लेख पूर्व में भी मिलता है तथा वर्तमान में जो वाद्य प्रचार में है उसको यह रूप देने का श्रेय अमीर खुसरो को ही जाता है। इसको निम्न प्रमाणों के आधार पर हम स्पष्ट कर सकते हैं —

1— ई स 1266 के पूर्व के किसी भी भारतीय ग्रंथ मे तबला इस वाद्य का उल्लेख नहीं है।

2 वर्तमान तबले के स्वरूप का उल्लेख 13 सदी के अंत से ही मिलता है।

3— अमीर खुसरो ने भारतीय तालों के आधार पर 15 ठेकों का निर्माण किया जिनमे से कुछ ताल मुख्य रूप से तबला वाद्य के अनुरूप ही थे। जिन 15 तालों के ठेके बनाये वे ताल इस प्रकार है।—

पश्तो सोगहार कव्वाली, वासूजे फाख्ता, जत, अलद त्रिताल, सवारी, आड़ाचारताल झूमरा,

अमीर खुसरो ने तबले की बनावट मे जो सुधार किया उससे परिणाम स्वरूप तबले को वर्तमान में यह स्थान या दर्जा प्राप्त हो सका है। तबले को ऊंचे स्वर में लाने के लिये खूंटियों के स्थान पर लकडी के गट्टे (जो संख्या मे आठ होते है) बद्धियों के नीचे फसाये जाने लगे। दोनों के मुख पर मढी जाने वाली पुडी मे बकरी के पतले चमड़े का उपयोग किया जाने लगा। पुडी तीन चमडियों से बनने लगी। ऊपरी चमड़ी को बीच से गोलाकार काटकर मुख पर लगभग 1 इंच चौड़ी किनारा रखी जाने लगी। गट्टों को ठोकने के लिए हथौड़ा का उपयोग किया जाने

नादे के पुड़ी के बीचोंबीच मसाले से घनी स्याही का लगाना प्रारंभ हुआ। उसी प्रकार बायें की मुख पर मसाले वाली पुड़ी की पतली वाली डोरियाँ उसमें भी चोटी रखी जाने लगी। बायें का पुड़ी पर आटे की पूरी लगाई जाती थी। बायें की पुड़ी का चमड़ा दायें के पुड़ी के चमड़े की अपेक्षा मोटा रखा जाने लगा। मुख की डोरी के स्थान पर चमड़े की लम्बी लम्बी पट्टियों का उपयोग किया जाने लगा।

यद्यपि आज यह प्रचलित है कि वर्तमान तबले का निर्माता अमीर खुसरो है, तथापि कुछ ऐसे तथ्य सामने आते हैं जो हमें इस धारणा से विचलित करते हैं। सन 1210 से 1246 का समय संगीत के महान पंडित शार्ङ्गदेव का समय है। इसी समय में उन्होंने अपने संगीत ग्रंथ 'संगीत रत्नाकर' की रचना की। इस ग्रंथ में उन्होंने उस समय के गायक वादक और नर्तक कलाकारों का तथा सब वाद्य प्रबंध आदि का उल्लेख किया है। ग्रंथ में कुछ प्राकृत भाषा के शब्दों का भी उपयोग किया है। इन प्राकृत भाषा के जिन दो शब्दों का उल्लेख हुआ है व तालवाद्यों के सम्बन्ध में दिये गये हैं।

1—उद्धार—हाथ की अंगुलियों अथवा हाथ की हथेली से निकाला गया आघात द्वार नाद

2—बोल्वाद—घनत्व, या हाथसे दाबकर निकाला गया गुंजायमान नाद

उपरोक्त उद्धार व बोल्वाद शब्दों के प्रतिशब्दों के रूप में वर्तमान के कुछ तबलावादक अनुक्रम में गाज व दाब शब्दों का प्रयोग करते हैं। हम देखते हैं कि प्राचीन अवनद्ध वाद्यों जैसे मृदंग, पटह, मुरज आदि पर एक साथ गाज व दाब का प्रयोग सम्भव नहीं था। अतः उपरोक्त सन्दर्भ से तबले के स्वरूप का ही कोई अवनद्ध वाद्य उस काल में होने की सम्भावना हो सकती है।

यद्यपि यह माना जाता रहा है कि तबले का आविष्कार अलाउद्दीन खिलजी के शासन काल में (13वीं सदी का अंत तथा 14वीं सदी का प्रारंभ) अमीर खुसरो ने किया तथापि उस काल में कहीं तबलावाद्य का, उसके वादन का तथा वादकों का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। मोहम्मद शाह रंगीले के काल में (1719-1748) रहमत खाँ परवावजी के पुत्र अमीर खुसरो ने प्रख्यात ख्याल गायक सदारंग से ख्याल गायन की शिक्षा ग्रहण की थी। इस समय तक ख्याल गायन के साथ तबला के संगत का उल्लेख नहीं है। इसी समय में ही अमीर खुसरो (द्वितीय) द्वारा ख्याल गायन के साथ तबले की संगत किये जाने का उल्लेख है। यद्यपि 13वीं सदी में तबल के समान किसी वाद्य का उपयोग गियासुद्दीन बलबन के काल में कव्वालों के साथ संगत करने में होता था ऐसा उल्लेख है।

तबले की उत्पत्ती के सन्दर्भ में यह धारणा गलत हो सकती है कि मृदंग अथवा पखावज के दो भाग करके तबले का निर्माण किया गया किन्तु तबले की

बनावट तथा विराम में मृदंग (पुष्कर) का आधार होने से हम इनकार नहीं कर सकते। 12वीं सदी में शारंगदेव के समय तक पुष्कर वाद्यों के (आलिंग्य और ऊर्ध्वक) भागों का वादन लुप्त प्राय हो चुका था। शायद इन्हीं दो भागों के आधार पर तबले की उत्पत्ती हुई हो।

तबले का जन्म कभी भी हुआ हो तथा किसी ने भी किया हो उसका पूर्ण विकसित रूप 19वीं सदी तक प्राप्त हो चुका था। तबले की उत्पत्ति के संदर्भ में अनेकानेक भ्रांतियाँ हैं तथापि तबले को वर्तमान स्वरूप प्रदान करने में अनेक कलाकारों का हाथ रहा है। 19वीं सदी के पूर्वार्ध तक तबले को वर्तमान स्वरूप में लाने का मुख्य श्रेय सिद्धार खाँ को जाता है। सर्वप्रथम सिद्धार खाँ ने तबले के बायें पर भी हाथ के अनुसार स्याही लगाई जो मध्य में न होकर थोड़ी हटकर लगाई जाने लगी। इस प्रकार बायें पर स्याही लगने से तबला वाद्य में वे सारे मृदंग्भार बोल जो टोल पर बजते थे आसानी से बजाये जाने लगे। ऐसा कहते हैं कि सिद्धार खाँ के समय के पूर्व तक तबले पर मृदंग या पखावज के समान खुले बोल ही बजते थे। सिद्धार खाँ ने ही सर्वप्रथम तबले पर बंद बोलों के वादन का आरंभ किया तथा तबले की विशिष्ट प्रकार की वादन शैली का प्रादुर्भाव हुआ। बंद बोलों का निकास पखावज के (मृदंग के) निकास से भिन्न था। इस प्रकार के बंद बोलों के वादन शैली को दिल्ली बाज कहा जाने लगा क्योंकि सिद्धार खाँ दिल्ली दरबार में दरबारी वादक थे। अब तबले पर मृदंग तथा नक्कारा दोनों ही प्रकार के खुले एवं बंद बोलों का वादन प्रचलित हो गया था। तबले के बोलों का साहित्य मृदंग नगाड़ा, ढोलक एवं नृत्य से लिया गया।

19वीं सदी के पूर्वार्द्ध तक विदेशियों के द्वारा लिखे गये ग्रन्थों से जैसे— हिन्दू म्युजिक (Hindu Music) म्युजिक ऑफ हिन्दुस्तान (Music of Hindustan) से यह विदित होता है कि इस काल तक भारतीय शास्त्रीय संगीत में तबला वादक को वह स्थान प्राप्त नहीं हुआ था जो मृदंग या पखावज वादक को प्राप्त था। तबले का वादन अधिकतर पेशेवर नर्तकियों के नृत्य के साथ संगत करने में अथवा श्रृंगार युक्त गायन के साथ संगत में किया जाता था। यद्यपि सरल और सौंदर्य युक्त होने से जन साधारण में भजन, कीर्तन आदि में इसका प्रयोग होने लगा था। घरानेदार संगीतज्ञों ने इसे नहीं अपनाया था, इसका कारण यह हो सकता था कि पर परम्परागत चले आ रहे मृदंग (पखावज) के महत्व को छोड़ने के लिये घरानेदार संगीतज्ञ तैयार नहीं हुये। इस कारण तबले के वादन के विकास की गति धीमी रही।

तबले का कला दृष्टि से हुआ विकास

वैदिककाल के काल से ही भारतवर्ष में तालशास्त्र का विस्तृत ज्ञान प्राप्त हो चुका था। अनेक प्रकार के लगभग 360 सम और विषम तालों का उल्लेख संस्कृत ग्रन्थों में हुआ है। ताल यह अखंड होने के कारण गणित शास्त्र के आधार

पर अलग अलग स्थानों के अगणित ताल बन सकते है। ऐसी कल्पना है कि अमृत म थन के बाद देव और असुर आनंद से भिन्न भिन्न गति मे नृत्य करने लगे। देवों द्वारा जिस गति मे नतन हुआ उन्हें समताल तथा असुरों द्वारा जिस गति मे नतन हुआ उस विषम तालो की सज्ञा दी गई।

भारतवर्ष मे इतने प्राचीन काल से उपलब्ध ताल शास्त्र का उपयोग तबला वादन के शास्त्र के लिये किया गया। तबले के दाये तथा बाये पर अलग अलग प्रकार से अलग अलग स्थानों पर उत्पन्न ना" ध्वनि को विशिष्ट अक्षरों तथा बोलों से पहचाना जाने लगा तथा इस प्रकार तबल वादन की भाषा निर्माण हुई। दाये तथा बाये के सयुक्त तथा एकल अक्षरो से प्रच लित तालों के ठेकों की रचना की गई। तालों के ठेके उसके स्वरूपानुसार अलग अलग लय मे निश्चित किये गये। प्राचीन ग्र थों म कही भी तालो के निश्चित ठेकों का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। प्राचीन काल मे गायन वादन, नतन के वजन के अनुसार वादक को ठेके स्वय बाधना पडते थे। अनुमान है कि ध्रुवपद गायकी के प्रचार प्रसार के साथ साथ 1९ वी सदी म तालो के ठेको का ज म हुआ होगा। इन ठेकों की रचना छ दों के आधार पर की गई होगी। इन तालो के ठेको को बार बार सगत म प्रयुक्त किये जाने से वे सभी ठेके जो एक बार विकसित हुये परंपरा से अगली पीढ़ी से लिये प्रमाण बन गये। यद्यपि तबल की भाषा का आधार म दग की भाषा ही रहा तथापि तबले के दाये बाय स निकलने वाल घुमक्दार स्पष्ट तथा मधु नाद ध्वनि के कारण तबले की भाषा कालान्तर स मदग की अपेक्षा अधिक प्रभावी हुई। तबले की भाषा भिन्न भिन्न प्रांतों मे भिन्न भिन्न रही तथापि बोलों क निकास में बहुत कुछ साम्यता बनी रही। तबले पर बजने वाले एक ही प्रकार के बोलो का अलग अलग प्रांतों में अलग अलग प्रकार से उच्चारण किया जाने लगा।

जसे — धिनतक — महाराष्ट्र, बनारस दिल्ली।
धनतक — पूरब, फरूखाबाद अजराड़ा।
धगतक — पजाब, लाहौर कराची।

तबले के बोल (वण) सख्या का अलग अलग विद्वानों न अलग अलग उल्लेख किया है। उस पर हम सूक्ष्म दृष्टि से देखते है तो मुख्य सात वण ही बनते है। व है। क ध अथवा ग त द न ट र।

तबले की भाषा मे तालव्य, कण्ठय और दत्य व्यजनों का प्रयाग दिखाई देता है। ओष्ठय अथवा उकारात स्वर वज माने गये है। तबले से वर्णों को निकालने क अलग ढग प्रचलित हुए। दाये बायें के मजू और दाब के अनुसार अलग विद्वानों ने अपनी अपनी विशेषता के अनुसार बोलों के निकास को प्रचलित किय तथा इसी आधार पर अलग अलग बाज और घरानों का ज म हुआ। तबले क प्रचारक तथा बोल एव ठेकों के सधारक माने जाने जाने वाले सिद्धार खां के व शजों की दिल्ली बाज कहा जाने लगा। इस बाज के सिद्धार खा क शिष्यों द्वार दिल्ली घराने का प्रादुर्भाव हुआ। सिद्धार खां के वंश परम्परा लोगों द्वारा व

जिस कारण दायें हाथ की तयारी के साथ बाये हाथ की हथेली का बाये मुख पर उतनी शीघ्र गति से चलना कठिन हो जाता है और इस कारण मृदंग (पखावज) बजाना तबले की अपेक्षा अधिक कठिन होता है। तबले के दाय तथा बाय दोनों मुखों पर दाये बाये दोनों हाथों की अंगुलियों का शीघ्रता से चलना तबले के अधिक उपयोगी होने का कारण बना है।

3 मृदंग (पखावज) के किसी भी मुख पर घुमक निकालने की सुविधा नहीं होती है। दाये मुख पर स्याही होती है तथा उस पर हथेली तथा अंगुलियों का उपयोग किया जाता है। बाये मुख पर स्याही के स्थान पर गीला कच्चा आटा लगाया जाता है जिस कारण बाये मुख पर हथेली के निचले भाग से घुमक निकालना सम्भव नहीं होता है। इसके विपरित तबले के दाये मुख पर हथेली तथा अंगुलियों दोनों का प्रयोग उसी प्रकार बाय पर भी स्याही लगी होने के कारण अंगुलियो तथा हथेली दोनों का प्रयोग होता है। तबले के बाये मुख पर ढोलक के समान घुमक भी निकाली जा सकती है। इस कारण तबले के वादन में सुन्दरता बढ़ जाती है।

4 तबले के वादन मे आसदार खुले तथा बिना आसदार मद (मुंदर) दोनों प्रकार के बोलोका वादन सम्भव होने से उसके वादन म मिठास उत्पन्न होती है।

5 तबला वाद्य ऊध्वमुखी होने के कारण तथा ऊंचाई सीमित होने के कारण इस पर लयकारी म तथा तयारी के साथ वादन करने मे सरलता होती है।

6 तबले पर खुले तथा बद दोनों प्रकार के बोलो का निकास सरल एव सम्भव होने के कारण यह ध्रुपद धमार आदि गामीय युक्त गायन, ख्याल गायन तथा सुगम सगीत के साथ सगत करने म सक्षम होता है।

7 वतमान मे ध्रुवपद गायन जसे गभीर गायन की अपेक्षा ख्याल गायन एव सुगम सगीत का अधिक प्रसार होने से पखावज की अपेक्षा तबला वादन अधिक प्रचार में आया है।

8 यह वाद्य (तबला) एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में सुविधा जनक होता है उसी प्रकार समय आने पर उस खड़े होकर कमर मे बाधकर बजाना भी सम्भव है। इस कारण इसका प्रयोग मृदग (पखावज) की अपेक्षा बढ़ गया है।

9 पखावज (मृदग) की अपेक्षा तबला वादन का साहित्य वतमान म इतना विकसित हुआ है कि इसका वादन सीखने के लिए अनेक ग्रथ उपलब्ध है। इसके अलावा तबला सीखने के लिए तबला कलाकार भी मृदग कलाकारो की अपेक्षा आसानी से मिल जाते हैं। तबले के एकाकी वादन के प्रचार एव प्रसार के कारण भी तबले का महत्व दिनोदिन बढ़ता जा रहा है।

10 तबले के दाये बायों का भिन्न भिन्न आकार होना जिससे भिन्न स्वरों

के दायें अलग अलग स्वरों में उपलब्ध होने से भी तबला संगत के लिए अधिक उपयुक्त है।

11 रागों की स्वर विशेषताओं के अनुसार तबला यह वाद्य निश्चित स्वर मध्यम पंचम, निषाद और टीप किसी भी स्वर में प्राप्त हो सकता है।

12 अब तो यह भी संभव हो गया है कि 12 स्वरों में से निश्चित 7 स्वरों के दायें लेकर तबला तरंग का वादन होने लगा है। भविष्य में यह वाद्य जल तरंग के अनुसार अलग अलग रागों में तबला तरंग के रूप में बजे तो आश्चर्य की बात नहीं होगी।

पुष्कर, मृदंग, पखावज और ढोल वाद्यों का विकास, इतिहास

ढोल जन साधारण मे बड़े आकार वाला इस अथ म जाना जाता है। अंग्रेजी मे हम इसे ड्रम कहते हैं। ढोल इस शब्द का अर्थ प्राणियों के चमड़े को आवरण रूप म लगाकर बनाया गया वाद्य। इस प्रकार हम देखते हैं कि अतिप्राचीन काल से वर्तमान काल तक कई वाद्य ऐसे बन हैं जिनके मुख पर चमड़े का आवरण होता है। किंतु हम प्रत्येक वाद्य को ढोल वाद्य नही कह सकते। ढोल वाद्य उन्हीं वाद्यों को कहते जिनका रूप बहुत कुछ प्राचीन ढोल समान वाली यह आकार का हो तथा जिस पर हाथो स या डंडियो से खुला प्रहार कर केवल लय स्थापना की जाती हो।

ऐसा माना जाता है कि स्वर ज्ञान के पूर्व ही मानव ने लय ज्ञान प्राप्त कर लिया था। प्राचीन के इतिहास का अध्ययन करने पर, जब कि स्वर युक्त गायन का कोई अस्तित्व ही नही था, हड्डियों, नरमुंडों, माटी के घुनझुन आदि के ताल वाद्यो का अस्तित्व म होना यह सिद्ध करता है कि स्वर ज्ञान की अपेक्षा लय का ज्ञान मानव को पहले हो चुका था। मानव के बौद्धिक विकास के साथ साथ उसने चमड़े को साफ करके उसे तानकर उस पर हाथ या लकड़ी से प्रहार कर उसकी ध्वनी से लय धारण करना सीखा। धीरे धीरे इनका उपयोग आनन्द प्राप्ति के लिए सन्देश देने के लिये आदि कार्योंमे किया जाने लगा। जो चमड़ा उपयोग म लाया जाता था वह हिरण बैल बकरी, भेड़ या अन्य किसी जानवर का होता था। ढोल वाद्यो के अनेक प्रकार बने जिसके आधार पर इन्हे निम्न विभागो मे बांटा जा सकता है —

1 भूमि को आधार मानकर बनाये गये।
2 लकड़ी को खोखला कर, आधार मानकर बनाये गये।
3 माटी के बर्तन को आधार मानकर बनाये गये।
4 धातु के बर्तन को आधार मानकर बनाये गये।

1 भूमि को आधार मानकर बनाये गये (GROUND DRUMS) — भूमि मे गड्ढा खोदकर उसके ऊपर साफ किये चमड़े को तानकर बिठाते थे। चमड़े को खूंटियों द्वारा भूमि के पृष्ठ पर कस दिया जाता था तथा इसे लम्बे लम्बे लकड़ियो से पीटकर बजाया जाता था। प्राचीन काल के इस प्रकार के ढोल मे अधिकतर बैल का चमड़ा लगाया जाता था। भारत वर्ष म इतिहास की दृष्टि से ढोल

वाद्यों में भूमि दुंदुभी यह वाद्य सबसे प्राचीन वाद्य कहा जाता है। वेद पुराणों में भूमि दुंदुभी का स्पष्ट उल्लेख है। वैदिक काल में इसका वादन यज्ञ के मन्त्रोच्चारण के साथ या यज्ञ की सूचना देने के कार्य में किया जाता था। इस वाद्य के वादन के बिना कोई भी धार्मिक विधी सम्पन्न नहीं होती थी। इसके वादन से सभी लोग धार्मिक स्थल पर एकत्र हो जाया करते थे। भारतेत्तर देशों में प्रचलित स्लिट ड्रम्स इसी श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

2 लकड़ी को खोखला कर, आधार मानकर बनाये गये —लकड़ी के बड़े गोल को बीच में से खोखला करके उसके ऊपर चर्म आच्छादन करके तथा उसे कस कर इस प्रकार के ढोल बनाये जाते थे। इनके दुदयत दो रूप होने का उल्लेख प्राचीन ग्रंथों एवं शिलालेखों में मिलता है। इसका एक रूप ... तथा दूसरा रूप घड़े के निचले भाग के समान होता था। भारतवर्ष में इस प्रकार का वाद्य दुंदुभी के रूप में प्रसिद्ध था। प्रागैतिहासिक काल में दुंदुभी वाद्य का उल्लेख मिलता है। वैदिक काल में तो दुंदुभी का विस्तार पूर्वक वर्णन मिलता है। यजुर्वेद में दुंदुभी के बनावट के बारे में लिखा है कि इस वाद्य का निर्माण काष्ठ से उसे खोखला कर होता था। लकड़ी विशेष प्रकार की होती थी। उसके मुख को परिपक्व चमड़े से आच्छादित करके चारों ओर से चमड़े की वाद्धियों से बांध कर कस दिया जाता था। वाद्धियों को नरम रखने के लिए लेपन भी किया जाता था। इसकी आवाज बड़ी होती थी तथा दूर तक सुनाई दी जा सकती थी। दुंदुभी पर बैल के चमड़े का आच्छादन किया जाता था। इसका प्रयोग भी यज्ञ कार्य में लोगों को एकत्रित करने के लिए किया जाता था। इस वाद्य का उल्लेख ऋग्वेद एवं अन्य वैदिक साहित्य में मिलता है। महाभारत में भी इसका उल्लेख है।

3 माटी के बर्तन को आधार मानकर बनाये गये —ऐसे ढोल वाद्यों का यद्यपि विस्तृत वर्णन या उल्लेख नहीं मिलता है तथापि कुछ शिला चित्रों से इस प्रकार के वाद्य होने का संकेत मिलता है। माटी के बड़े आकार के मटके के निचले भाग के समान बर्तन पर चमड़े का आच्छादन कर उसे तानकर इस प्रकार के ढोल बनाये जाते थे। शायद यह माटी से बने होने के कारण तथा मजबूती में कच्चे रहने के कारण इनका उपयोग अधिक नहीं हो पाया होगा। आज के तबला जोड़ी में माटी के बने बायें के रूप के समान ही किंतु माटी के ढोलों का बड़ा रूप रहा होगा। भारतेत्तर देशों में इस प्रकार के 'पॉट ड्रम' का उल्लेख मिलता है। पाणिनी ने ... वाद्य का उल्लेख ईसा पूर्व 7वीं सदी में किया है।

4 धातु के बर्तनों को आधार मानकर बनाये गये ढोल —मनुष्य के बौद्धिक विकास के साथ साथ उसने ढोल तथा अन्य वाद्य धातु के बनाना सीखा। धातु के बड़े बड़े बर्तन बनाकर उस पर चमड़े का आच्छादन कर, रस्सी से उसे कस दिया जाता था तथा उसे लकड़ी की डंडियों से मारकर बजाया जाता था। इस प्रकार के वाद्यों में तासा, नगाड़ा आदि प्रकार के वाद्य आते हैं। प्राचीन मन्दिरों में

पूजा आरती के समय इस प्रकार के वाद्यों का वादन होता था। इसका उल्लेख मिलता है। आज भी कई बड़े बड़े मंदिरों, मठों में इनका वादन होता है। पश्चात्य देशों में इनका अधिक प्रयोग होता है।

ढोल वाद्यों का विकास एवं इतिहास —अति प्राचीन काल में ढोल वाद्य काफी बड़े आकार के रहे होंगे। निजाम व सातों में उपलब्ध ढोल वाद्यों की ऊंचाई लगभग 10 फुट की थी। धीरे धीरे इसके आकार में परिवर्तन होने लगा तथा उनकी ऊंचाई तथा चौड़ाई कम होते लगी। आज बड़े बड़े मठों और मन्दिरों में बड़े तथा मध्यम आकार के नगाड़े हमें दिखाई देते हैं। छोटे आकार के नगाड़ों की ऊंचाई 3 से 5 फुट तक होती है। धीरे धीरे इनका आकार सुविधानुसार छोटा होता चला गया तथा इसके नाम तथा वादन शैली में अंतर आता गया। वर्तमान में प्रचलित नक्कारे को उसी ढोल वाद्य का छोटा रूप कहा जाये तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

हमने ढोल वाद्यों का वर्गीकरण करते हुए ढोल वाद्यों में किस प्रकार परिवर्तन हुए इसका उल्लेख किया है। मोहन जोदड़ो एवं हड़प्पा की खुदाई से प्रमाण मिलते हैं कि उस समय भी दुन्दुभी एवं मृदंग समान घनवाद्य थे। पाणिनी ने भी ईसा पूर्व सातवीं सदी में दर्दुर वाद्य का उल्लेख किया है जो एक मुखी वाद्य था। दुंदुभी तथा नगारा वैदिक काल के महत्वपूर्ण वाद्य थे ढोल वाद्यों की शिल्प कृतियां सांची (ईसा पूर्व दूसरी सदी) खजुराहो कोणार्क आदि स्थानों पर दिखाई देती है। लकड़ी से बनाया गया खोखा, अंदर से खोखला होना शायद अन्य सभी प्रकार के लकड़ी के ढोलों से प्राचीन रहा हो। भारत के समान ही प्राचीन सुमेरियन संस्कृति (ईसा पूर्व) में भी ढोल वाद्यों का उल्लेख मिलता है। ढोल वाद्यों का उल्लेख जो 1 मुखी था कौटिल्य के अर्थशास्त्र में आडम्बर रामायण में कुंभवाद्य तथा बौद्ध काल में कुंभ थूणक के रूप में मिलता है।

भारतीय संस्कृती या संगीत के इतिहास का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि प्रागैतिहासिक वैदिक पौराणिक तथा प्राचीन काल में ढोल इस शब्द का कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया है। भारतीय संस्कृति तथा संगीत पर मुगल तथा मुस्लिम संस्कृति की छाप पड़ने पर ढोल शब्द भारतीय संस्कृति एवं संगीत प्रचार में आया। ऐसा कहा जाता है कि ढोल शब्द दुहुल के अपभ्रंश से बना है आइने अकबरी भाग 3 पृष्ठ 268 पर इस का उल्लेख किया गया है। कुछ भी हो ढोल वाद्य प्राचीन वैदिक पौराणिक एवं प्रागैतिहासिक काल तक अधिक प्रचार में रहे। भारतीय संगीत में नृत्य, नाटक, कंठ संगीत, तंतु वाद्य तथा सुषिर वाद्यों के अधिक प्रचलन के साथ इनका प्रयोग कम होता चला गया तथा इन ढोल वाद्यों के आधार पर दूसरे चर्मवाद्यों ने अपना अपना स्थान बनाना प्रारंभ किया। भरत के पूर्व से ही ब्रह्म भरत एवं नारद ने दुंदुभी समान अन्य अवनद्ध वाद्यों को बनाया ऐसा उल्लेख भरत ने किया है। भरत ने अपने ग्रंथ में यह भी लिखा है कि स्वाति

ने दुदमी के आधार पर मुरज, आलिंग मदग आदि वाद्यों का निर्माण किया। अत हम उन वाद्यो को भी ढोल वाद्य के विकास की श्र खला म जोड सकते है।

ढोलक इस वाद्य का नामकरण शायद मुस्लिम संस्कृति के ढोल शब्द के आधार पर किया गया होगा चू कि अन्य शास्त्रीय संगीत के उपयोगी वाद्यों की अपेक्षा इसका मुख बड़े आकार का था। ढोलक यह शब्द भी मध्यकाल की देन माना जा सकता है। मध्यकाल म सूर दास, परमानद चतुभ ज दास आदि के द्वारा ढोलक शब्द का उ लेख किया गया है। 14 वी सदी के सुधा कलश कृत 'संगीतो पनिषद' ग्र थ के अध्याय 4 मे ढोलक, ढक्का, डफ आदि वाद्यो को म्लेच्छ वाद्य कहा गया है। लिखा गया है —

तथच म्लेच्छवाद्यानि ढोलक ढक्क मुखानि तु ढफा च टामकी चव ढक को पादचारिणाम

यद्यपि शास्त्रीय संगीत के समृद्धशाली होने स संगीत म मद गादि वाद्यों ने अपना स्थान बना लिया तथापि लोक संगीत एव देशी संगीत मे ढोल वाद्यो का स्थान बना रहा। इसी प्रकार का एक वाद्य है डफ। य आकार मे छोटे बड़े होते है। इनका उपयोग लोक संगीत म सब धारण करने म होता है। कबीरा या कमीरा लोकसंगीत के अलावा द भारतीय कर्नाटिक संगीत म प्रयुक्त होता है।

कुछ वाद्य जिनको हम ढोल वाद्यो की श्रे णी मे रख सकते है तथा जो शास्त्रीय संगीत म प्रयुक्त नही होत इस प्रकार है —

1 केरल के लोगो का मिलावू वाद्य।
2 उत्तर प्रदेश का ताशा।
3 आध्र प्रदेश का तुडुमुली।
4 कर्नाटक का डिंडी व तासा।
5 तामिलनाडु का तुमुक्कू।
6 महाराष्ट्र का सबल।
7 राजस्थान चारुणो की माटे।
8 कश्मीर का तुम्बकनारी।
9 गोवा का घुमर।
10 उडिसा का चडचडो।
11 लद्दाख का 'डमा'।

शायद स्वर स्थापना तथा वर्ण निकास की दृष्टि से उपयोगी न होने के कारण इ है म्लेच्छ वाद्य कहा गया हो।

भारतीय संगीत के समृद्ध होने के साथ साथ भारतीय ढोल वाद्यों के स्थान पर दूसरे अवनद्ध वाद्य प्रचार में आये तथा उनका प्रचार प्रसार एव विकास होता चला गया। अव+नह इस धातु का अर्थ आच्छादित होता है। इसी कारण ऐसे

वाद्य जिनके मुख चमड़े से आच्छादित या मढ़े हुए होते हैं उन्हें अनवद्ध वाद्य कहा जाता है। ऐसे अनवद्ध वाद्यों में प्राचीन भरत काल से शारंगदेव काल तक के प्रमुखतम वाद्यों में पुष्कर एवं मृदंग है। मध्यकाल में मृदंग दो नामों से जाना जाने लगा एवं इसकी बनावट तथा वादन शैली में भी अंतर आ गया। दक्षिण भारत में मृदंगम् तथा उत्तरी भारत में यह पखावज के नाम से जाना जाने लगा।

पुष्कर —शास्त्रीय संगीत के उपलब्ध ग्रन्थों में भरत मुनी का 'नाट्य शास्त्र' यह ग्रन्थ सर्व प्रथम ग्रन्थ है। जिसमें अवनद्ध वाद्यों का विस्तृत वर्णन मिलता है। 'नाट्य शास्त्र' में शक, यवन आदि शब्दों का उल्लेख होने से यह जाना जा सकता है कि भरत का काल 2री से 4थी शताब्दी के मध्य रहा होगा। इनके समय के बारे में कोई निश्चित मत प्राप्त नहीं होता है। ऐसा माना जाता है कि नाट्य शास्त्र का लेखन भरत मुनी ने सम्भाजित लिखित ग्रन्थ 'आदिभरत' के 12000 श्लोकों में से 6000 श्लोक लेकर किया। आदिभरत' ग्रन्थ भी ब्रह्म कृत नाट्य वेद के 36, 000 श्लोकों के आधार पर बना था। नाट्य वेद तथा आदिभरत के ये ग्रन्थ उपलब्ध न होने के कारण आज उस काल के अवनद्ध वाद्यों को नाट्य शास्त्र ग्रन्थ के आधार पर ही जाना जा सकता है। अवनद्ध वाद्यों का नाम निर्देश अन्य ग्रंथों में मिलता है विस्तृत विवरण नहीं है। भरतमुनी ने त्रिपुष्कर एवं मृदंग वाद्यों का विस्तृत विवेचन किया है। कहीं कहीं उन्होंने मृदंग को ही पुष्कर कहा है इस कारण भ्रम उत्पन्न हो जाता है। पुष्कर का अर्थ वाद्य के मुख से लगाया जाता है। त्रिपुष्कर एक ऐसा एक ही अंग का वाद्य था जिसके तीन मुख होते थे। त्रिपुष्कर के मुख पर मढ़े चमड़े पर स्वर स्थापना के लिए माटी का लेप किया जाता था। यद्यपि त्रिपुष्कर का विस्तृत विवेचन एक अंग के रूप में नाट्य शास्त्र में नहीं मिलता है। इस प्रकार का वाद्य था इसका प्रमाण चिदम्बरम के नटराज मंदिर में उत्तर तौडव शिल्प में मिलता है। उसी प्रकार पुरी के एक नटराज शिल्प में भी मिलता है। त्रिपुष्कर नाम का वाद्य पूना के राजा केल्कर संग्रहालय में विद्यमान है।

भरत मुनी ने पुष्कर शब्द का उपयोग मृदंग के विभिन्न रूपों के सन्दर्भ में किया है। कहीं कहीं उन्होंने मर्दल मुरज, को भी पुष्कर कहा है। त्रिपुष्कर का प्राचीन काल में भी प्रचार, प्रसार कम होगा इसी कारण त्रिपुष्कर का विस्तृत विवेचन प्राप्त नहीं होता है। भरतमुनी ने मृदंग के लिए पुष्कर शब्द का उल्लेख कई बार किया है तथा मृदंग के 3 रूपों हरीतकी, यवाकृती तथा गोपुच्छ कृती के रूप में वर्णन किया है। आंकिक, आलिंग्य और ऊर्ध्वक इन तीन पदों को मिलाकर भी पुष्कर त्रय के रूप में वर्णन मिलता है। कुछ विद्वान इन्हीं 3 अंगों के वाद्य को त्रिपुष्कर के रूप में स्वीकार करते है।

भरत ने वाम पुष्कर दक्षिण पुष्कर इन नामों का उल्लेख बाये तथा दाये

पुख के लिए भी किया है (श्लोक 103 से 105 पृ 385) पुष्कर त्रय के तीनों मदगों को (अ गो को) लम्बाई, चौडाई तथा मुखों का व्यास भी भिन्न होता था। तीनो मदग माटी के बने होते थे। कही कहीं काष्ट निर्मित थ ऐसा भी उल्लेख है। नाटय शास्त्र के वाद्याध्याय के श्लोक क्र 23 से 44 तक का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि जहा सपूण अ ग वाद्य का उल्लेख करना हो वहीं पुष्कर शब्द का नाम उल्लेख किया है किंतु जहां पर अलग अलग पाटाक्षर निकालने के विधी का वणन किया है यहा आंकिक, आलिंग्य तथा उर्ध्वक तीनों का अलग अलग उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि, भरतकाल में मृदग वादन 3 मदगों को मिलाकर किया जाता था। जैसे आज तबला वाद्य कहने पर बाया एवं दाया दोनों उसके अ तगत आते है। उसी प्रकार पुष्कर वाद्य कहने पर उसके अतगत आंकिक, आलिंग्य तथा उर्ध्वक ये तीनो मृदग आते थे। यहां यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि त्रिपुष्कर तथा पुष्करत्रय वाद्य माटी के बने होने के कारण ही भरत ने उनका मदग नाम से उल्लेख किया होगा। पुष्कर के वादन के पूर्व उसकी (वाद्य की) पूजा कर किस प्रकार उन्हे व्यवस्थित किया जाय इसका उल्लेख वाद्याध्याय के श्लोक 273 से 277 तक किया है। वाद्याध्याय के श्लोक क्र 11 मे भरत ने लिखा है कि स्वाती मुनी ने दुदुभी वाद्य के आधार पर मुरज, आलिंग्य, उर्ध्वक और आंकिक जसे वाद्यो को रचना की। इससे सिद्ध होता है आलिंग्य उर्ध्वक, आंकिक तीन अलग अलग मदग होकर मदग समान अवनद्ध वाद्यों को भरत ने पुष्कर कहा है। 16 अक्षर, 4 माग, विलेपन, 6 करण, 3 यति, त्रिलय, त्रिगत, त्रिप्रचार त्रियाग त्रिपाणि, पच पाणिप्रहत, त्रिपहार, त्रिमाजना, 18 जाति, 20 अलकार इनका निष्पादन करने मे जो वाद्य सक्षम हो उसे पुष्कर वाद्य कहे गे (वाद्याध्याय श्लोक 37 38 39)। उपरोक्त सारे नियमों का निष्पादन आंकिक, आलिंग्य या उर्ध्वक के सयुक्त वादन से ही सभव था। इसी कारण इन्हें त्रिपुष्कर कहा है। स्वाती मुनी द्वारा निर्मित 3 प्रकार के मृदग, माटी के बने भरत ने बताये है तथापि भरतने पणव दर्दुर जसे वाद्यो का काष्ठ का होना प्रतिपादित किया है। स्वाती मुनी द्वारा निर्मित मदग अलग अलग ध्वनि विशेष के आधार पर बने थे। इन्हीं 3 मदगों को भरत ने पुष्कर कहा। पुष्कर त्रय के तीनों अ गों (मृद ग) का वणन भरत मुनी ने इस प्रकार किया है। आंकिक, आलिंग्य, तथा उर्ध्वक ये तीनो मद ग माटी या काष्ट से निर्मित होते थे। आंकिक को लिटाकर बजाया जाता तथा आलिंग्य और उर्ध्वक से यह महत्वपूर्ण था। इन तीनों में से कि ही दो अथवा एक से भी समयानुसार वादन सभव था पर तु जो नियम बताये हैं वे तीनो पर मिलकर ही सभव थे। स्वय महर्षि भरत ने आंकिक का मदग के रूप मे उल्लेख किया है।

(अ) आंकिक—पुष्कर त्रय का यह अग (मदग) वतमान के मदगम या पखावज के समान ही लिटाकर बजाया जाता था। यह लकडी का बना होता था। इस समय तक (भरत काल तक) माटी एव लकडी दोनो के मृदग बनाये जाते थे।

इसकी लम्बाई 3½ बिलात् होती थी। मुख 2 होते थे तथा दोनों मुखों का व्य 12 अंगुल होता था। इसके दोनों मुखों पर चमड़े मढ़े रहते थे। यह चमड़ा गा या बैल का दाग रहित सफेद होना चाहिये तथा चमकदार होना चाहिए था। दो मुखों के चमड़ों को आपस में डोरी से कसकर बांध दिया जाता था। इसका आक 'हरीत की' के समान होता था। डोरी या बद्धी को दो के बाद तीसरी को बीच से निकाला जाता था। यह डोरियां संख्या में 10 होती थी। नवीन आंकिक वाद्य के घी के साथ तिल को पीसकर बने मसाले का स्याही के रूप में लेपन कि जाता था।

पुष्कर के ऊपर अलग अलग स्वर स्थापना की जाती थी। स्वर स्थापना प्रकार से होती थी जिन्हें मार्जना कहते थे। यह मार्जना आंकिक और ऊर्ध्वक मुखों पर कायम की जाती थी। मार्जनाओं के अनुसार स्वर स्थापना निम्नानु की जाती थी —

	आंकिक के		ऊर्ध्वक के
मार्जना	बायें मुख पर	दायें मुख पर	मुख पर
1 मायूरी	गधार	षडज	पंचम
2 अर्धमायूरी	षडज	रिषभ	पंचम
3 कार्मारवी	रिषभ	षडज	पंचम

(ब) ऊर्ध्वक—पुष्कर का यह अंग लकड़ी या माटी का बना होकर बिलात ऊंचा होता था। इसके मुख का व्यास 14 अंगुल का होता था। यह रखकर बजाया जाता था। इसका 1 ही मुख होता था। इसे वर्तमान के वाद्य अनुसार ही डोरियों से कस दिया जाता था। पुष्कर वाद्य के स्वर स्थापना में इस यह विशेषता रहती थी कि इसको पंचम स्वर में मिलाया जाता था। (अंग व चमड़ा लेपन आदि मदल के समान ही समझा जावे)।

(स) आलिंग्य—पुष्कर का यह अंग भी लकड़ी का बना होता था। इस भी एक ही मुख होता था। ऊंचाई 3 बिलात तथा मुख का व्यास आठ अं होता था। इसके पुड़ी को भी वर्तमान तबले के बायें के अनुसार ही कसा जाता था इस अंग (मध्य) को षडज स्वर में मिलाया जाता था। मार्जनाओं में आलिंग्य स्वर स्थापना का कोई उल्लेख नहीं है। इसका चमड़ा, लकड़ी, डोरी, लेपन, आ मदल के समान ही था। इसे मंद्र सप्तक के मध्य सप्तक के षडज भी मिलाते थे।

उल्लेख ऐसे वाद्य से किया है जिसका मुख पणव से मढ़ा हो। ऐसे 3 प्रकार के पुष्कर (मृदंग) पुष्कर त्रिपुष्कर कहा है। श्लोक 103 से 105 तक मार्जना को स्थाना में मुख के स्थान पर वाम पुष्कर तथा दक्षिण पुष्कर कहा है। इसी प्रकार अध्याय 33 के श्लोक 36 मे मृदंग, पणव तथा दर्दुर आदि वाद्यों को पुष्कर वाद्य कहा है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पुष्कर कोई अलग से वाद्य नही था। ऐसा समझा जा सकता है कि पुष्कर तीर्थ के समान पवित्रता का अथवा विशेषता का भास कराने के लिए तथा स्वाती को याद रखने के लिए मृदंग वाद्य को पुष्कर कहा हो। क्योंकि स्वाती के मृदंग और भरत के मृदंग के बनावट में अन्तर आया हो।

मृदंग

नामकरण—मृदंग यह संस्कृत भाषा के दो शब्द मृत्+अंग से बना है, यह सर्वमान्य है। मृत अर्थात माटी और अंग यानी शरीर। अतः माटी से बना अंग जिस वाद्य का है उसे हम मृदंग कहते है। यह इसके नामकरण का शाब्दिक अर्थ बना है। कुछ विद्वान अंग का अर्थ मृदंग के एक किसी भाग का माटी का होना बताते है और इस प्रकार इस वाद्य के नामकरण के संबंध मे दो अर्थ निकाले जाते हैं—

1 ऐसा वाद्य जिसका शरीर (अंग) मिट्टी का बना हो।

2 ऐसा वाद्य जिसके शरीर का एक अंग (अंश) माटी से बना हो।

यहा हमे यह ध्यान देना होगा कि मृदंग की उत्पत्ती के आधार पर ही इसका नामकरण कैसा हुआ यह समझा जा सकता है। संस्कृत भाषा में दक्षिये अथवा हिंदी भाषा में कहीय मृदंग का संधि विच्छेद मृत+अंग सही है। जब हम संधि विग्रह के विचार से सोचेंगे तो माटी से बना अंग जिसका हो वह मृदंग यह उचित प्रतीत होता है। अब यह भी समझना होगा कि मृदंग की निर्मिती कितनी पुरानी है। भरत ने अपने नाट्य शास्त्र ग्रंथ में 'स्वाति मुनी द्वारा एवं नारद द्वारा गांधर्व के वाद्य वादन के विषय मे विस्तार से मृदंगादि वाद्यों के गुण लक्षण तथा कार्य के विषय मे (अपने ग्रन्थों में) बतलाया है'' ऐसा उल्लेख किया है (ना० शा० अध्याय 33 श्लोक 3)। यहा उन्होने क्रमशः स्वाति तथा नारद मुनि के जीवन समय का उल्लेख नही किया है। मृदंग की उत्पत्ति के बारे में कई किवदंतियां है। स्वाति तथा नारद को अवनद्ध वाद्यो का आदिकर्ता मानना उचित नहीं होगा। यह संभव है कि स्वाति के संबंध मे पुष्कर निर्माण का जो उल्लेख भी भरत ने किया है वह मृदंग के प्राचीन रूप मे सुधार हो। इसीलिए भरत मुनी ने पुष्कर के स्थान पर कही 2 मृदंग शब्द का उल्लेख किया है।

पौराणिक काल मे (वैदिक काल मे नहीं) दुंदुभी तथा मृदंग का उल्लेख मार्कंडेय पुराण में मिलता है। संभव है कि सर्वप्रथम मृदंग का अंग (शरीर) माटी का ही बनाया गया हो। कालान्तर के बाद मृदंग को (शरीर या अंग के

माटी से बने होने को कारण) स्थाई अन उपयोगिता के कारण उस का अग
शरीर लकडी का बनना प्रारम्भ कर दिया गया हो कि तु उसके नामकरण में
परिवतन न किया गया हो।

अब हम दूसरे अथ पर विचार करेंगे कुछ वि.ान मृदग (मृत+अग)
अथ दूसरे प्रकार से निकालते है कि 'जिसके शरीर का एक अग (भाग) माटी
हो (अर्थात माटी का विलेपन) वह मदग हैं। यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि
विलेपन मृद ग का स्थाई अ ग था ? यदि नहीं तो केवल समयोचित उपयोग
माटी का विलेपन करने पर उसका मृदग के नामकरण से सबध जोडना उ
है ? यदि लेप (विलेपन) के आधार पर ही उसे मृ ग कहा जाना उचित मानते
तो समय समय पर विलेपन मे अ तर भी आता गया है। भरत मुनी ने स्वय
के घी के साथ तिलका चूण कर विलेपन करने का उल्लेख किया है।

अत इसके नामकरण के बारे मे एक निश्चित धारणा नही बन पाती है
कुछ विद्वान पहले मत का तथा कुछ विद्वान दूसरे मत का प्रतिपादन करते है।

उत्पत्ति—विद्वानों के मतानुसार मृदग भारतीय शास्त्रीय सगीत का आ
अवनद्ध वाद्य है। ऐसा कहा जाता है कि इसकी उत्पत्ति ब्रम्हा द्वारा हुई।
प्रकार अनेक किंवदतिया मृद ग के उत्पत्ती के बारे म प्रचलित है। साधारण
देखा गया है कि मनुष्य जिस किसी रहस्य या वस्तुके उत्पत्ती के बारे में अनभि
होता है उसका सम्बन्ध ईश्वर से जोड देता है। ऐसा करने से उस वस्तु के
आम जनता स्वाभाविक रूप से आकर्षित होकर उस वस्तु के श्रेष्ठता को मा
कर लेती है। इसी प्रकार कुछ किंवदतिया यहा प्रस्तुत है—

'भगवान शकर ने जब त्रिपुरासुर नामक राक्षस का वध किया तो आन
के अतिरेक मे नृत्य करने लगे। यह नृत्य लय म नहीं था। अत इस कारण पृ
डावाडोल होने लगी। जगत स्रष्टा ब्रह्मा जी ने जब देखा कि पृथ्वी रसातल मे
रही है तो भयभीत होकर प्रलय निवारण हेतु उ होने तुर त त्रिपुरासुर के शरी
अवशेष से मदग की रचना की। मदग वादन कर लय धारण का काय श्री गणे
जी न किया। लय की धारणा से शकर जी भी लय मे नृत्य करने लगे तथा पृथ्
रसातल मे जाने से बची। इस प्रकार मदग की उत्पत्ती हुई'

पुष्कर (मदग) के विषय मे दूसरी किवन्ति इस प्रकार है कि—

'भारतीय सगीत के उपलब्ध आदि सगीत ग्रन्थ भरत कृत नाट्य शास्त्र
भरत मुनी ने लिखा है कि पुष्कर (मदग) समान अवनद्ध वाद्य के निर्माता स्वा
तथा नारद है। इस के स दभ मे भरत कहते हैं एक बार स्वाति मुनि अनध्या
के दिन आकाश म बादल छाये हुये होने पर जल लाने के लिए एक सरोवर
गये। जब वे सरोवर मे जल लेने को उतर तो (इन्द्र ने पृथ्वी पर सागर बना
के विचार से) मूसलाधार वर्षा आरम्भ हुई। उस सरोवर मे वायु के वेग से
और बडी बूदो के कमल के पत्तो पर गिरने के कारणभिन्न भिन्न किंतु मधुर

उत्पन्न होने लगी। मुनी ने इस अपूर्व ध्वनि को श्रेष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ प्रका के विभाजन पर विचार कर विश्वकर्मा की सहायता से, इन ध्वनियों के आधा पर 3 प्रकार के मृदंगो का निर्माण किया। इसे पुष्कर नाम दिया। ये अलग अल ध्वनोच्चारणा युक्त 3 मृदंग ही त्रिपुष्कर कहलाये (ना शा अध्याय 33 श्लो 5 से 10)। इन तीन मृदंगों को आंकिक, आलिंग्य तथा उर्ध्वक नाम दिये।

भरत मुनि ने यद्यपि स्वाति तथा नारद को मृदंग, पुष्कर, पणव तथा दर्दुर वाद्यो का प्रणेता बतलाया है तथापि उन्होंने स्वाति तथा नारद के समय काल के बारे मे कोई उल्लेख नही किया है। हो सकता है कि स्वाति तथा नारद ने वैदिक काल या पौराणिक काल में मृदंग का निर्माण किया हो। तभी पुराणकाल (ई पूर्व 1000 वर्ष से) बौद्धकाल, रामायण काल, महाभारत काल तथा भरतकाल तक मृदंग का उल्लेख है।

विकास एवं इतिहास—जब हम भारतीय संस्कृति के इतिहास पर दृष्टि डालते है तो ईसा पूर्व 8000 से 5000 वर्ष का काल आर्यों के भारत की ओर स्थानांतरण करने का काल रहा तथा ईसा पूर्व 5000 से 3000 वर्ष का काल आर्यों के संस्कृति के उन्नती के प्रारंभ का काल माना जाता है। भारतीय सिंधु संस्कृति का काल ईसा पूर्व 3000 से 1500 वर्षों का कहा जाता है। इसमे थोडा बहुत मतभेद भी हो सकता है। यहाँ इसका उल्लेख करना इसलिए आवश्यक है कि भारतीय संस्कृति से भारतीय संगीत तथा वाद्यो का घनिष्ठ संबंध रहा है। ईसा पूर्व 2000 से 1000 के काल म अनेक वैदिक सूक्तो की रचना की गई। वैदिक काल म मुख्य रूप से ऋग्वेद, सामवेद, अथर्वेद और यजुर्वेद ये चार, महत्वपूर्ण लिखे गये ग्रंथो में से है। इसके बाद स्कंदपुराण, मार्कंडेय पुराण आदि पुराण ग्रंथ प्राप्त होते है।

वैदिक काल—हमारे भारतीय संस्कृति की ज्ञान समृद्धि वेदो मे संकलित है। वैदिक काल मे संगीत उत्कर्ष पर था। वेदकाल म स्वरसप्तक या इसका उल्लेख भरत सोमेश्वर ने किया है। यद्यपि सप्तस्वरो के नाम वर्तमान स्वरों से भिन्न थे। उसी प्रकार द्रुतावृत्ति (द्रुतलय) मध्यमावृत्ति (मध्यलय) तथा विलम्बित। वृत्ति (विलंबित लय) का उल्लेख भी वेदों के अध्ययन से प्राप्त होता है। धार्मिक एवं सामाजिक उत्सवों म संगीत का प्रयोग अनिवार्य समझा जाता था। आम नागरिकों में संगीत के प्रति सम्मान की भावना व्याप्त थी। स्त्री एवं पुरुष को समान रूप से संगीत उपासना करने का अधिकार था। संगीत का सम्मान जनक स्थान होने पर भी उस समय दुंदुभी, भूमि दुंदुभी समान लय वाद्यो का ही उल्लेख मिलता हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि वेद कालीन संगीत मे इन वाद्यो पर लय स्थापना तो की जाती थी किंतु विशेष स्वर स्थापना या तालों से संगीत का परिमापन नहीं होता था। मृदंग का कही भी उल्लेख नही है। इससे यह निश्चय निकलता है कि वैदिक काल तक मृदंग का निर्माण नही हुआ था।

वदिक काल का समय ईसा पूर्व 2000 से 1000 वर्ष तक माना जाता है। कई इतिहासकार ईसा पूर्व 1700 से 800 वष का भी बताते है। वदों में सर्वप्रथम वेद 'ऋग्वेद' था। इसकी रचना ईसा पूव 1500 वष के लगभग की गई थी। और इसके बाद ही अ य वेद ग्र थों की रचना हुई होगी।

यद्यपि वेदों म मद गादि चर्म वाद्यों का उल्लेख नहीं है। तथापि भारत के सिंधु घाटि की सभ्यता जो उससे भी प्राचीन है (जिसका काल ईसा पूव 3000 से 2000 वष साधारणत माना जाता है) के अवशेषों से मृद ग समान तथा अन्य प्रकार के ताल वाद्य होने की सभावना उत्पन्न होती है। सिंधु घाटी सभ्यता के नगरों का उदय के साथ साथ उस सस्कृति के समाप्ती का काल ईसा पूव 1750 वष बताते है। मद ग समान वाद्य उस काल म होने का प्रमाण हडप्पा व मोहन जोन्डो नगरों के उत्खनन से प्राप्त अवशेषों मे मिलते है। इन नगरों के प्राप्त अव शेषों के भित्ति चित्रों पर तथा मुद्राओं पर मदग समान वाद्य का वादन करते हुए मानव आकृतिया प्राप्त हुई है। यह वाद्य गले मे टागकर दोनों हाथों स बजाते हुए बताये गये हैं। यह कहना कि उस काल म मद गादि वाद्यो का निर्माण हुआ था या नहीं, कठिन है।

पुराण काल—(ईसा पूव 1000 स 600 वष) मद ग का सब प्रथम स्पष्ट उल्लेख प्राचीन आगम व कालक गह्य सूत्र मे ईसा पूर्व 800 वष के लगभग प्राप्त होता है। पौराणिक काल मे दर्दुर, पणव आदि मदगादि चम वाद्यो का प्रचार एव प्रसार था ऐसा उल्लेख मार्कंडेय पुराण से मिलता है। स्कद पुराण, वायु पुराण मे भी इन ताल वाद्यों का उल्लेख है। किंतु इन वाद्यो के सबध मे विशेष जानकारी प्राप्त नहीं है।

तैत्तिरीय उपनिषद, ऐतरेय उपनिषद् म तथा अतिरिक्त याज्ञवल्क्य रत्न प्रदीपिका, प्रतिभाव्य प्रदीप, नारदीय-शिक्षा प्रभृति ग्र थो म भी सगीत एव नृत्य का परिचय मिलता है। हरिवश पुराण मे भी दर्दुर पणव, मदगादि वाद्यों का उल्लेख है।

बौद्ध काल—(ईसा पूव 550 वष) इस काल में भी सगीत अपने चरम उत्कष पर था। अत हम कह सकते हैं कि इस काल में भी मृदगादि तालवाद्या का प्रयोग होता होगा क्योंकि पुराण काल मे मृदगादि वाद्य प्रचलित थे तथा बाद मे रामायण महाभारत काल में भी मृदगादि ताल वाद्यों का उल्लेख है।

रामायण महाभारत काल (ईसा पूव 400 से 200 वष)—वाल्मिकी रामायण के सुन्दरकांड सग 11 में मदग तथा मुरज दोनों वाद्यो का उल्लेख किया गया है। इसके अलावा भेरी, दुदुभी, घट मृन्दुक, आडबर आदि वाद्यो का उल्लेख भी है। मृद ग का प्रयोग ताल वाद्यों म अधिक प्रमाण मे होता था मद ग का विस्तृत विवेचन प्राप्त नहीं है। तथापि यह उल्लेख कि मदग भाडो के अ ग का भी

पुडी चमड़ा या सूत्र से दोनों हाथों से बजाया जाता था, अल्प रूप में मिलता है।

महाभारत ग्रन्थ में भी मृदंग तथा मुरज के प्रयोग का उल्लेख है। इस काल तक माटी के अंग के स्थान पर काष्ट के प्रयोग का उल्लेख है। इस काल तक माटी के अंग के स्थान पर काष्ट के अंग के मृदंगों का निर्माण होने लगा था। (संगीत दर्पण के अनुसार)। काष्ठ के अंग से बने मृदंग की ध्वनि माटी के अंग से बने मृदंग की अपेक्षा अधिक मधुर होती थी। किन्हीं किन्हीं ग्रंथकारों ने काष्टांग निर्मित मृदंग को मधुर मृदंग कहा है।

भरत कृत नाट्य शास्त्र काल (ईसा पूर्व 200 से ई सन् 200 तक)— यहां भरत का काल ई पू 200 से ई स 200 देने का कारण यह है कि नाट्य शास्त्र के लेखक भरत के निश्चित समय के बारे में संगीत विद्वान एकमत नहीं है। है। तथापि आम धारणा ई स 200 के आसपास मान्य है। कुछ कुछ विद्वान ई स 400 का काल नाट्य शास्त्रकृत भरत का काल मानते है। भरत नाम का उल्लेख पाणिनी के ग्रन्थ तथा बाल्मिकी रामायण में भी मिलता है। अत हम कह सकते है कि भरत यह उपनाम है जिसका उल्लेख नाट्य कला या शास्त्र के विद्वान के रूप में किया जाता रहा होगा। भरत ने अपने ग्रन्थ के 33 वे अध्याय के प्रारंभ में ही कहा है कि "स्वाति तथा नारद ने क्रमश गंधर्व के वाद्य वादन के विषय में मृदंग पणव, तथा दर्दुर की वादन विधि, लक्षण, गुण तथा कार्य को बताया है"। इन दोनों (स्वाती, नारद) के लिखित ग्रन्थ प्राप्त न होने से मृदंगादि वाद्यों के संदर्भ में विस्तृत विवेचन भरत कृत नाट्य शास्त्र से ही प्राप्त होता है। वैसे भी संगीत के उपलब्ध ग्रन्थों में सब प्राचीन यही ग्रन्थ माना गया है। भरत ने स्वाति मुनी के अनुसार ही मृदंगादि पुष्कर वाद्यों का विवेचन किया है। भरत पूर्व तक वास्तव में मृदंग का स्वरूप कैसा था यह कहना कठिन है। भरत काल तक मृदंग का अंग लकड़ी का बनाया जाने लगा था। उसके पुडी पर चावल के घी में तिल पीसकर उसके मसाले का लेप लगाने का भी उल्लेख भरत ने किया है। भरत ने तीन प्रकार के मृदंगों का उल्लेख किया है जिन्हें आंकिक, ऊर्ध्वक तथा आलिंग्य कहा है। उन्होंने इन तीनों मृदंगों को जो क्रमश हरीतकी, यवाकृति तथा गोपुच्छाकृति रूप के थे, त्रिपुष्कर कहा है। इन तीनों मृदंगों के (पुष्कर वाद्यों के) वादन के नियमों का (16 अक्षर, 4 मार्ग, विलेपन, 6 करण, तीन यतियां त्रिलय, त्रिप्रचार, त्रिगत, त्रियोग, त्रिपाणि, पंचपाणि प्रहत, त्रिप्रहार, त्रिमार्जना, 18 जातियां, और 20 अलंकार) विस्तृत विवेचन किया है। इसी प्रकार 33 वे अध्याय के श्लोक 242 से 259 तक वाद्यों का स्वरूप चर्म काष्ठ, लेपन आदि का विवेचन किया है। इसके अलावा नये मृदंग वादन के पूर्व उसकी स्थापना, पूजा आदि का वर्णन किया है। उत्तम वादक के लक्षण भी बताये हैं। मृदंग समान वाद्यों (दर्दुर पणव आदि) को अंगवाद्य तथा झल्लरी, पटह समान वाद्यों को प्रत्यंग वाद्य कहा है।

मदगादि वाद्यों में दुदुभी समान आवाज अधिक जोरो से नहीं होती। इनमें स्वरों की स्पष्टो होती है तथा इनमे मधुर गुंज होती है। इनमें विधिवत प्रहारों की व्यवस्था है। स्पष्ट प्रहारों की व्यवस्था होती है तथा इन पर मार्जना धारण कर स्वरों को निश्चित किया जाता है इसके विपरित भेरी झल्लरी, पटह दुदुभी तथा डिंडिम जैसे प्रत्यग (गौण) वाद्यों का आकार बड़ा होने से तथा शिथिलता रहने से केवल गम्भीर ध्वनि की उत्पत्ति होती है। उत्सव, राजकीय यात्रा, मंगल अवसर, विवाह, पुत्रो सव, अघटित घटना, युद्ध स्थिति आदि के अवसर पर अग (मुख्य) तथा प्रत्यग (गौण) वाद्यो की समयानुसार योजना करने का उल्लेख भी किया है। गायन, वाद्य नृत्य के साथ मदग का वादन वाद्य वादन के 20 प्रकार, उसकी योजना, मृदग वादक के गुण दोष आदि का विस्तृत विवेचन किया है।

उपरोक्तानुसार भरत ने मदग का जो विस्तृत विवेचन किया है इससे यह समझ मे आता है कि भरत के समय में मदग, उसका स्वरूप वादन, शिक्षा आदि मे कितना ऊचा स्थान बना लिया था। भरत मुनि के बाद उनके शिष्यों ने नाट्य शास्त्र के आधार पर ही अन्य ग्रथों की रचना की थी।

भरतकाल से लगभग ग्यारवी सदी तक के पुरातत्व सर्वेक्षण से यद्यपि त्रिपुष्कर एव द्विपुष्कर वाद्यो के वादन के प्रमाण मिलते है तथापि भरत काल के बाद कालातर मे त्रिपुष्कर वाद्यो क विघटन से मुख्यत दो प्रकार के स्वतत्र अवनद्ध वाद्यो का विकास प्रारम्भ हुआ। एक लिटाकर बजाये जाने वाले द्विपार्श्वमुखी (आकिक समान' तथा दूसरे ऊर्ध्वमुखी (ऊर्ध्वक और आलिंग्यक के समान)। भरत के बाद के काल मे शनै शनै त्रिपुष्कर वाद्य का विघटन होने लगा था।

पुष्कर वाद्यो के विघटन के कारण

(1) मनुष्य को प्रकृति ने दो ही हाथ दिये है। इसलिए एक ही समय म दो मुखो का वादन कर सकना स्वाभाविक एव सुविधापूर्ण होता है। त्रिपुष्कर के 3 अग तथा 4 मुखो का वादन मनुष्य को असुविधापूर्ण लगा होगा।

(2) हाथो को एक ही प्रकार की स्थिति में रखकर बजाना सुविधापूर्ण होता है। त्रिपुष्कर के दो पार्श्व मुखी तथा दो ऊर्ध्वमुखी स्थिति के कारण पुष्कर वाद्यो का वादन असुविधा पूर्ण रहा होगा।

(3) एक समान हाथो की स्थिति के वादन मे गतिशीलता सहज उत्पन्न हो सकती है किन्तु दो भिन्न अलग स्थितियों क (पार्श्वमुखी तथा ऊर्ध्वमुखी वादन स्थिति) वादन में गतिशीलता लाने में असुविधा रही होगी।

(4) भरत काल के संगीत में षडज और मध्यम दो ग्रामो का प्रचार था और मूर्छनाओं म षडज अचल नहीं रहता था। त्रिपुष्कर वाद्यो के मुखों को मूर्छनाओं के अनुसार स्वरों में स्थापित किया जाता था। आकिक के दोनों मुखों को अलग अलग स्वरों में स्थापित किया जाता था। आलिंग्य को मद्र सप्तक के निषाद या षर्ज के षडज स्वर म मिलाते थे तथा ऊर्ध्वक को पचम स्वर में स्थापित किया जाता था।

कालांतर में संगीत में परिवर्तन के साथ षडज स्वर के अचल होने से, एक ही ग्राम में संगीत व्यवहार होने लगा। इस कारण त्रिपुष्कर के भाजनाओं का महत्व नहीं रहा तथा त्रिपुष्कर के 3 वाद्यों का वादन असुविधापूर्ण हो गया होगा।

(5) एक मुख को नियत स्वर में तथा उसी प्रकार अन्य दूसरे किसी भी मुख को नियत स्वरों में मिलाने से ही कार्य सिद्धी होने लगी होगी तथा त्रिपुष्कर के 4 मुखों के असुविधापूर्ण वादन का महत्व कम होने लगा होगा।

(6) वादन करते समय खड़े होकर या बैठकर बजाने में आंकिक के दोनों पार्श्वमुखी अथवा आलिंग्य सम्यक के ऊर्ध्वमुखी दो मुखों का वादन सुविधापूर्ण रहा होगा।

(7) राजा की शोभायात्रा, विवाहोत्सव, धार्मिक उत्सव आदि में चलायमान स्थिति में वादन के लिए आंकिक के दो मुखी वादन का प्रचार अधिक हुआ होगा तथा आलिंग्य ऊर्ध्वक का कम। आंकिक वाद्य को गले में कंधे पर लटकाकर खड़ा होकर वादन करने में सुविधा रही होगी। पुरातत्व सर्वेक्षण से खड़े होकर आंकिक के दो मुखी वादन के तथा बैठकर ऊर्ध्वमुखी आलिंग्य ऊर्ध्वक के वादन के प्रमाण मिलते हैं।

(8) 'नाट्यशास्त्र में पुष्कर वाद्यों का नाट्य के वादन के साथ अनिवार्य अंग के रूप में तथा नाट्य के संदर्भ में ही वादन का उल्लेख किया गया है। कालांतर में जब गायन, वादन, नृत्य कलाओं में एकल विधा का महत्व बढ़ता गया तो संभवतः पुष्कर वादन असुविधापूर्ण रहा होगा तथा एक निश्चित स्वरों के दो मुखी वाद्य विकसित हुए होंगे।

(9) नवीं दसवीं सदी से बाहरी आक्रमणों के कारण राजनैतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक जीवन में अस्थिरता आ गई। कुछ कलाकारों को राजाश्रय मिला तथा कुछ को नहीं। ऐसे कलाकारों की कला लोक कला के रूप में प्रस्फुटित होकर सामने आई। इस प्रकार 13 वीं सदी तक पुष्कर वाद्यों का वादन समाप्त प्राय हो चुका था।

भरत काल के बाद (3री सदी से) शारंगदेव काल (13वीं सदी) तक मृदंग मर्दल और फिर मृदंग

हमने पिछले मृदंग पुष्कर एवं ढोलवाद्य के वर्णन में यह देखा कि भारतीय संगीत के इतिहास में मृदंग यह वाद्य सबसे प्राचीन अवनद्ध वाद्य है जिसने गायन, वादन एवं नृत्य के साथ वादन में प्राचीन काल से ही प्रमुख भूमिका रही है। हमने यह भी देखा कि धीरे धीरे पुष्कर वाद्य का विघटन क्यों हुआ। भरत काल के बाद से शारंगदेव के काल तक जिन संगीत ग्रंथों की रचना हुई उनमें पुष्कर वाद्य का बहुत कम उल्लेख मिलता है। मृदंग का उल्लेख तो हुआ है किन्तु उसके गठन, वादन आदि का विस्तृत विवेचन प्राप्त नहीं है। 3 री सदी से 13 वीं सदी

तक जो संगीतकार हुए उनका उल्लेख कई ग्रंथों में आया है जैसे—दत्तिलम, भरतभाष्य, कुट्टनीमत आदि। जो ग्रंथकार या संगीतकार हुये उनका उल्लेख शारंगदेव ने अपने 13 वी सदी मे लिखे 'संगीत रत्नाकर' ग्रंथ मे किया है। (भरत काल के बाद) शारंगदेव ने जिन आचार्यों का उल्लेख किया है व इस प्रकार है विशाखिल, कोहल दत्तिल शार्दूल कश्यप, दुर्गा शक्ति, मातगुप्त, मतंग, राहुल, कीर्तिधर उद्भट रुद्रट अभिनव गुप्त भोज, नान्यदेव सोमेश्वर आदि। इन सभी ग्रंथकारों ने लगभग भरत के समान ही मत का प्रतिपादन किया है।

यहा यह ध्यान रहे कि यद्यपि शारंगदेव के पूर्व आचार्यो ने भरतमत का प्रतिपादन किया तथापि मर्दल के स्थान पर कहीं कहीं मदल इस शब्द का उपयोग होने लगा था। कालीदास ने (4 थी सदी, मर्दल, मुरज तथा मदल तीनो वाद्यों का उल्लेख किया है। हम कह सकते है कि भरत काल के बाद (जब कि भरत ने पुष्कर समूह अलग अलग मृदंगों का उल्लेख किया था), मदल तथा मुरज शब्द का उल्लेख मर्दल के स्थान पर किया जाने लगा।

शारंगदेव के काल (13 वी सदी) मे मर्दल का स्थान मदल ने ले लिया था इस आधार पर हम कह सकते है कि शारंगदेव काल के पूर्व ही भरत उल्लेखित आंकिक का ही प्रचार रहा होगा तथा उसका उल्लेख मदल या मुरज शब्द ने ले लिया होगा। विशेषकर मदल शब्द अधिक प्रचार मे रहा होगा तभी शारंगदेव ने अपने ग्रंथ 'संगीत रत्नाकर' के अध्याय 6 (तालाध्याय) के श्लोक 127 में कहा है कि

'प्रोक्तं मर्दल शब्देन मुनिना पुष्करं त्रयम।
अत्यंताव्यवहार्यत्वान्नि शक्तो न तनोति तत॥

'भरत मुनी ने मर्दल को त्रिपुष्कर के रूप में बताया है। (वह मर्दल या त्रिपुष्कर वाद्य) अत्यंत अव्यवहारिक (इस काल में) होने से मैं (शारंगदेव) उसका वर्णन नही कर रहा हूँ।

(शारंगदेव) ने मदल का जो वर्णन वाद्याध्याय के श्लोक 1019 से 1031 तक किया है वह संक्षिप्त में इस प्रकार है —

मदल रक्तचन्दन अथवा बीज की लकड़ी से बनाया जाता था। उसका खोड (ढांचा) बीच मे से खोखला होकर उसकी लम्बाई 21 अंगुल होती थी खोड की दोनों मुखों पर मुटाई आधा अंगुल की होती थी। दायामुख 13 अंगुल और बाया मुख 14 अंगुल व्यास का होता था। मदल का मध्य बीच में से उठा हुआ रहता था। मुखों के व्यास की अपेक्षा 1 अंगुल बडा चमडा, जिसमे 1–1 अंगुल की दूरी पर 40 छेद कर, उन छेदों में से वद्धी डालकर दोनों मुखों पर कस दिया जाता था। भात और राख मिलाकर विलेपन के लिए मसाला तयार कर पुडी के आकार में बाये मुख पर मोटा थर तथा दाये मुख पर बारीक थर (वर्तमान स्याही) बीचों बीच लगाया जाता था। इस प्रकार के विलेपन से मंद्र किंतु गम्भीर ध्वनि उत्पन्न होती थी।

शारंगदेव ने कुछ आचार्यों के अनुसार 30 अंगुल लम्बाई, दोनों मुखों पर लकड़ी की मुटाई 1 अंगुल, दाया मुख $11\frac{1}{2}$ अंगुल तथा बाया मुख 12 अंगुल, ऐसे वाद्य के होने का भी उल्लेख किया है।

इससे यह प्रमाणित होता है कि शारंगदेव काल तक अलग अलग आकारों के मृदगों (मदलों) का निर्माण किया जाता था। शारंगदेव ने कहा है कि मदल को ही मदग और मुरज कहते है। उन्होंने अलग अलग मुखों के पाटवण, मन्ल वादक के लक्षण, मदल व ब तथा मदल वादक के गुणदोषो का भी वर्णन किया है।

इस प्रकार हम देखते है कि शारंगदेव काल में मृदग ने मदल तथा मुरज नाम प्राप्त कर लिया था।

भारतीय संगीत के इतिहास पर शारंगदेव के बाद मध्ययुग में हुए राजनैतिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का गहरा प्रभाव पड़ा। यहां से उत्तर भारतीय एवं दक्षिण भारतीय संगीत की नीव पड़ी। दक्षिण भारत में संस्कृत भाषा विद्वान पण्डितों में प्रचलित रही किंतु उत्तर भारत म उर्दू, हिंदी, फारसी आदि भाषाओं का प्राधान्य रहा दक्षिण भारतीय संगीत पर प्राचीन भारतीय संगीत, ताल एवं वाद्यों का प्रभुत्व बना रहा तथा उत्तर भारतीय संगीत मे बदलाव आया। इस कारण दक्षिण भारत मे मदल ने पुनः म दगम (संस्कृत) नाम धारण कर लिया।

पखावज – भारतीय संगीत के इतिहास का अध्ययन करने पर हमे ज्ञात होता है कि, मध्यकाल म कई संगीत के आचार्य या तो स्वयं उत्तर भारत की ओर गये या कुछ मुगल बादशाहो ने दक्षिण के राज्यों के जीत के बाद अपने साथ ले जाकर अपने दरबारों म स्थान दिया। मुगल संस्कृति के कारण उत्तर भारतीय संगीत के वाद्यो पर भी असर पड़ा। उत्तर भारत में मदल नाम के स्थान पर 'पखावज' शब्द प्रचार मे आया। यह फारसी शब्द है। पखावज का अर्थ कई तरह से निकाला जाता है —

1— पख (पक्ष)+आवाज, जिस पर आसदार आवाज निकले।

2—पखावज—पखवाज का अपभ्रंश है जिसका अर्थ हैं पूरी पख (पूरी बाजू) के दम से बजाया जाने वाला।

इस प्रकार कई अर्थ निकाले जाते है। इसी प्रकार कुछ तथ्य सामने आते हैं जैसे आतोद्य का अपभ्रंश शब्द आवज है जिसका उल्लेख प्राचीन ग्रंथों म मिलता है। आतोद्य यानि वाद्य। इस प्रकार आवज यानि वाद्य पख यानि पूरी बाजू। पूरी बाजू के दम से बजाया जाने वाला वाद्य पखावज है यह धारणा कुछ अधिक सशक्त महसूस होती है। आवज इस वाद्य का उल्लेख प्राचीन ग्रंथों म मिलता है। मध्य युग म लिखे गये 'आइने अकबरी' म आवज इस ताशे के समान वाद्य का वर्णन मिलता है।

नाट्यशास्त्र के आधार पर प्राचीन मार्गी-तालपद्धति

भारत का सांगितिक इतिहास अति प्राचीन है। इसके काल विभाजन के के संबंध में संगीत के आचार्यों में मतैक्य नहीं है तथापि सवमान्य विचारों से हम संगीत के इतिहास को निम्न कालखण्डों में विभाजित कर सकते हैं —

1 अति प्राचीन काल — प्रागैतिहासिक काल, ईसा पूर्व 3000 वर्ष से ईसा पूर्व 1000 वर्ष तक

2 प्राचीन काल — वैदिक काल के बाद ईसा पूर्व 1000 से ई स 800 तक

3 मध्यकाल — मुस्लिम काल 800 ई स से 1800 ई स तक

4 आधुनिक काल — ई स, 1800 के बाद से वर्तमान तक

अति प्राचीन काल में ईसा के 3,000 वर्ष पूर्व भी भारतीय संगीत उन्नत अवस्था में था यह सिंधु घाटि के उपत्यकाओं के खनन से प्राप्त तत, सुषिर तथ अवनद्ध वाद्यों के धारण किए खंडित मूर्तियों से प्रमाणित होता है। वैदिक काल वे वेद ग्रंथों में (सामवेद, ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं अथर्ववेद) द्रुत, लघु, गुरु आदि (मात्रिक कालों का महत्वपूर्ण स्थान था। यज्ञों के समय साम गान आवश्यक होता था। साम गान के साथ दुन्दुभी का वादन होता था। अथर्व वेद में काष्ट निर्मित दुंदुभी तथ उसकी बनावट का वर्णन मिलता है।

वैदिक काल के बाद तथा ईसा पूर्व के ग्रन्थों में रामायण, महाभारत, पुराण बौद्ध ग्रंथ आदि प्रमुख हैं। इनमें भी अवनद्ध वाद्यों का स्पष्ट उल्लेख है किन्तु ताल पद्धति का उल्लेख नहीं है।

भरतकाल —

ईसा के बाद के प्राचीन उपलब्ध ग्रंथों में भरतमुनि का नाट्यशास्त्र ग्रंथ सर्वप्रथम ग्रंथ है। संगीत के क्षेत्र में इसे प्रामाणिक ग्रंथ के रूप में माना गया है। यह ग्रंथ वास्तव में 'नाट्यशास्त्र' ही है। नाट्य में संगीत के गायन, वादन, नृत्य, तीनों कलाओं का आवश्यक होने का निर्देश भरत ने दिया है। इसी तारतम्य में सभी अध्यायों में प्रसंगानुकूल गायन, वादन और नृत्य का उल्लेख किया गया है। अपने ग्रंथ के 28 से 33 वें अध्याय तक संगीत की विधाओं का विस्तृत विवेचन किया

है। 28 वां अध्याय आतोद्य विधान, 29 वां अध्याय ततातोद्य विधान 30 वां अध्याय सुषिरातोद्य, 31 वां अध्याय तालविधान, 32 वां अध्याय ध्रुवाविधान, तथा 33 वां अध्याय अवनद्ध आतोद्य के रूप में लिखे गये हैं।

28 वें अध्याय में ही भरत ने वाद्यों का वर्गीकरण तत, अवनद्ध, घन, तथा सुषिर इस प्रकार किया है। 31 वें अध्याय में ताल विधान का विश्लेषण किया है तथा परिभाषाओं को स्पष्ट किया है। 33 वें अध्याय में अंग तथा प्रत्यंग अवनद्ध वाद्यों का उल्लेख करते हुए अंग वाद्यों को संगीतोपयोगी बताकर उनकी रचना एवं पाटाक्षरों का विस्तृत विवेचन किया है। भरत ने ताल निर्वाह क्रिया को आधारित तथा वाद्यों में ताल निर्वाह को जारी बताया है। विलम्बित, मध्य, द्रुत लयों को क्रमशः तत्व, अनुगत तथा ओघ कहा है। सशब्द क्रिया तथा निःशब्द क्रियाओं को बताया है। गीति आदि के लिए लय निर्धारण के लिए तालका होना आवश्यक बताया है। लघु गुरु और प्लुतादि मात्रा काल मापकों को उद्धृत किया है।

भरत ने अवनद्ध वाद्यों की रचना, निर्माण आदि का विवेचन करते हुए पुष्कर वाद्य को सभी अवनद्ध वाद्यों में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है। अन्य वाद्यों में मर्दल मृदंग, पणव, दर्दुर, भूमि दुन्दुभी, दुन्दुभी, झल्लरी, तथा पटह का भी विवेचन किया है।

पुष्कर (मृदंग) वाद्य के संदर्भ में–16 पाटाक्षर, 4 मार्ग, 6 करण, विलेपन, त्रियति त्रिलय, त्रिप्रकार त्रियोग, त्रिपाणि, त्रिप्रहार, पञ्चपाणिप्रहत् त्रिमार्जना, जाति आदि वाद्य एवं वादन संबंधी उपादानों का विवेचन नाट्यशास्त्र में विस्तृत रूप में किया है।

ताल पद्धति से तात्पर्य यह होता है कि, तालव्याख्या, तालगठन के नियम, तालखंड, निश्चित पाटाक्षर, सशब्द निःशब्द क्रिया, ताल प्रस्तुति, तालविस्तार आदि का विवेचन।

नाट्यशास्त्र के आधार पर ताल पद्धति

नाट्यशास्त्र में ताल की परिभाषा इस प्रकार की है —

“कला, पात और लय से युक्त जो कालविभाग या परिमाणात्मक प्रमाण जो घन वाद्य वर्ग में आता है, ताल कहलाता है।”

साधारण व्यवहार के काष्ठा, निमेष या पल के परिमाण को ताल प्रसंग में कला नहीं कहा जाता। 5 निमेष काल को मात्रा कहते हैं तथा एक मात्रा से या मात्राओं के योग से बने काल समय को कला कहा है। मात्राओं के तीन स्वरूप बताये हैं-लघु गुरु और प्लुत। लय के तीन प्रकार बताये हैं द्रुत, मध्य तथा विलम्बित। मध्यलय के प्रमाणानुसार कलाका मान ज्ञात होता है। ताल मार्गों के अनुसार मात्रा काल ही पात का द्योतक है। (प्राचीन काल में प्रबन्ध या छन्द गायन होता था) इन दोनों में (गीत को म) कहां कहां पात हो इस आधार पर ही पात का काल

निश्चित किया जाता था और उसी अनुसार तालवादन होता था। एक मात्रिक काल (कला) को लघु द्विमात्रिक काल (कला) को गुरु तथा तीन मात्रिक काल (कला) को प्लुत कहा जाता था। प्राचीन काल में गायन का उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना था।

कला के आधार पर ही भरत ने पांच मुख्य तालों की रचना की थी। ये पांच ताल निम्नानुसार हैं —

1 चच्चत्पुट 2 चाचपुट 3 षट्पिता पुत्रक 4 सम्पक्वेष्टक
5 उद्घट्ट।

तालों के दो भेद बताये हैं, चतुरस्र तथा त्र्यस्र। इन दोनों की प्रकृति समान मानी है। मुख्य दो ताल बताये हैं। चच्चत्पुट (चतुरस्र जाति) तथा चाचपुट (त्र्यस्र जाति)। हां यहां यह ध्यान देने योग्य बात यह है कि इन तालों के नामों के उच्चारण के अनुसार उनकी कला एवं मात्रा होती है। इन तालों के चिह्न लघु, गुरु तथा प्लुत के चिन्हों द्वारा बताये गये हैं। इस आधार पर :—

चच्चत्पुट के चिन्ह होंगे— S S I S
चाचपुट के चिन्ह होंगे— S I I S

इन तालों को क्रमशः चतुरस्र तथा त्र्यस्र ताल भी कहा है।

इन दोनों तालों के मिश्रण से मिश्रताल की व्युत्पत्ति बताई है, जिनमें षट् पितापुत्रक या पंचपाणि ताल बताया है। मुख्य रूप से ताल के यही तीन भेद बताये है (31/13 18)। यहां हम समझ सकते है कि मिश्र ताल और भी बन सकते हैं

मार्ग —(यानि कला की रीति) 3 प्रकार की बताई है (ध्रुव मार्ग एक मात्रिक कला का होने के कारण उल्लेख नहीं किया है। (जिसमें प्रत्येक मात्रा पर घात होता है)।

1 चित्र मार्ग — 2 मात्रिक कला (पहली मात्रा पर घा दूसरी मात्रा बिना घात के
2 वार्तिक मार्ग — 4 मात्रिक कला (पहली पर घात शेष तीन बिना आघात के)
3 दक्षिण मार्ग — 8 मात्रिक कला (पहली मात्रा पर घा शेष मात्रा बिना आघात

ध्रुवमार्ग —ताल चाचपुट = S I I S 1/2/3/4/5,6 = 6 मात्रा
चित्रमार्ग— „ „ „ 2/2/2/2/2 2 = 12 मात्रा
वार्तिक मार्ग—„ „ „ 4/4/4/4/4,4 = 24 मात्रा
दक्षिण मार्ग—„ „ „ 8/8/8/8/8,8 = 48 मात्रा

इस प्रकार मार्ग के अनुसार ताल को लय में या काल में धारण करने की रीति स्पष्ट होती है। (ताल को हाथ पर ताली (सशब्द क्रिया), खाली (निःश

क्रिया) द्वारा प्रदर्शित किया जाता था। अलग अलग तालों के लिए निश्चित क्रियाएं भरत ने बताई है।

क्रिया—के मुख्य दो भेद बताये हैं (1) सशब्द (2) नि:शब्द।

(1) सशब्द क्रियाएँ —

(अ) ध्रुवा—अंगूठे तथा मध्यमा से चुटकी देते हुए हाथ नीचे लाना।

(ब) शम्या—दाहिने हाथ से बाये हाथ पर ताली देना।

(स) ताल—बाये हाथ से दाहिने हाथ पर ताली देना।

(द) सन्निपात—दोनो हाथो से बराबर ताली देना।

(2) नि:शब्द क्रियाएँ —

(अ) आवाप—हाथ ऊपर उठाकर अंगुलियों को सिकोड़ना।

(ब) निष्क्राम—नीचे की ओर अंगुलियों को फैलाना।

(स) विक्षेप—उठे हुए हाथ की फैली अंगुलियो को दायी ओर गिराना।

(द) प्रवेशक—अंगुलियों को झुकाकर सिकोड़ लेना।

वर्तमान काल मे जिस प्रकार ताल के मार्गों को ताली एवं खाली द्वारा प्रदर्शित किया जाता है, भरत ने ताल के मार्गों को क्रिया द्वारा (सशब्द अथवा नि:शब्द) प्रदर्शित करने के लिए प्रत्येक भाग मे निश्चित क्रिया के प्रथम अक्षर को लिखकर शास्त्र के रूप में तथा वास्तविक क्रिया द्वारा प्रायोगिक रूप मे प्रदर्शित करने का उल्लेख किया है।

उद —　　मार्गी ताल चच्चत्पुट।

ऽ	ऽ	।	ऽ̇	= चिह्न
2,	2	1,	3	= 8 मात्रा
स	श	ता	श	= क्रियाएं
सन्निपात	शम्या	ताल	शम्या	

क्रियानुसार चच्चत्पुट के 3 भेद बताये है।

ताल चच्चत्पुट

सन्निपातादि—	सन्निपात	शम्या	ताल	शम्या।
शम्यादि —	शम्या	ताल	शम्या	ताल।
तालादि —	ताल	शम्या	ताल	शम्या।

अंग—(तालनामो के वर्णाक्षर के अनुसार लघु गुरू या प्लुत आदि मात्रा खंडों को अंग कहते थे। जितने अंग होते थे वे ही तालके भाग होते थे। ताल खंडो को लघु, गुरु या प्लुत चिह्नो द्वारा दिखाया जाता था। लघु=1 मात्राकाल, गुरू=2 मात्राकाल तथा प्लुत=3 मात्राकाल का होता था। चिह्नों के अनुसार ही मात्राएं जानी जाती थी।

यति—(ऊपर वर्णित) लय की प्रवृत्ति के नियम को ही यति कहते हैं। इस स्रोतोगता तथा गोपुच्छा 3 यतियाँ बताई हैं। आरम, मध्य व अन्त में एक जैसी लय होने पर समायति। आरम में विलंबित, मध्य में मध्य तथा अन्त में द्रुत होने पर स्रोतोगता, (स्रोतोगता के अन्य दो भेद दो लयों से भी बनते हैं जैसे प्रथम विलम्बित मध्य, द्वितीय मध्य, द्रुत) तीसरी क्रमशः द्रुत मध्य तथा विलंबित होने पर गोपुच्छा यति होगी। इसके भी 2 अन्य भेद होंगे। क्रमशः मध्य विलंबित व द्रुत मध्य लय होने से ये दो भेद होंगे।

प्रस्तार—भरत ने अवनद्ध वाद्यों के वादन को ध्रुवाओं के अनुसार बताया है। ऋक, पाणिका गाथा, गीत जो विविध छंदों से निर्मित हो ध्रुवा रूप प्राप्त होते थे। ध्रुवा के वाक्यगत शब्दों में वर्ण, अलंकार, लय, यति और पाणि निश्चित रूप में एक दूसरे से स्थिर संबंध रखते थे। गीतों में जिन अंगों और कलाओं को रखा जाता था वे ही ध्रुवाओं में छंद और वृत्त के रूप में प्रगट होते थे। ध्रुवाओं में त्र्यस्र और चतुरस्र तालें रहती थी। निश्चित अक्षरों से युक्त, नियत यति हो तथा छन्दयुक्त हो उसी गीत में ताल वादन बताया है।

छंद के अनुसार ताल वादन होता था

प्रस्तार इस शब्द का अर्थ तालका विस्तार है। ताल को भिन्न भिन्न रीति से प्रस्तारित किया जाता था। तालों को भिन्न भिन्न रीतियों से प्रस्तुत करते समय तालका मूल स्वरूप जैसे अंग, क्रियाएं, मार्ग कला मात्रा एवं यति परिवर्तित होती रहती थी। कभी क्रियाओं में, कभी अंगों में परिवर्तन करके इनका वादन होता था कभी पूर्ण गुरु रूप में, कभी पूर्ण लघु रूप में, और कभी लघु गुरु के मिश्रित रूप विस्तार किया जाता था।

जैसे–क्रियाओं के परिवर्तन से विस्तार—

चच्चत्पुट— ऽ ऽ । ऽ̐

स श ता श

चच्चत्पुट— दो आवर्तन युक्त परिवर्तित क्रिया स्वरूप

ऽ ऽ । ऽ̐ ऽ ऽ । ऽ̐

श ता श ता ता श ता श

इसी प्रकार द्विकल चतुष्कल करके भी विस्तार किया जाता था।

पांच मार्गी ताल एवं उनके भेद (मुख्य)

(1) चच्चत्पुट—

यथाक्षर— ऽ ऽ । ऽ̐

स श ता श

द्विकल— ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ

नि श नि ता श प्र नि स

चतुष्कल— ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श, आ नि वि ता, आ ता वि प्र आ नि वि स

(2) चाचपुट—
यथाक्षर— ऽ । । ऽ
श ता श ता

द्विकल— ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श ता श वि स

चतुष्कल— ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ ता वि श आ नि वि स

(3) षट्पितापुत्रक—
यथाक्षर— ऽ । ऽ ऽ । ऽ
स ता श ता श ता

द्विकल— ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र ता श नि ता वि श ता प्र नि श

चतुष्कल— ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ ता वि श आ वि वि ता आ नि वि श
ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ ता वि प्र आ वि वि स

(4) सम्पक्वेष्टाक—
यथाक्षर— ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
ता श ता श ता

द्विकल—
चतुष्कल—] सम्पक्वेष्टाक को षट्पिता पुत्रक के समान जानिये।

(5) उद्घट्ट—
यथाक्षर— ऽ ऽ ऽ
नि श श

द्विकल—
चतुष्कल—] " चाचपुट के समान जानिये।

भरत ने अवनद्ध वाद्यों के वादन को ध्रुवाओं के अनुसार बताया है। ऋक्, पाणिका, गाथा, गीति जो विविध छंदों से निर्मित हो उन्हें ध्रुवा रूप प्राप्त होते थे। ध्रुवा के वाक्यगत धर्मों में वर्ण, अलंकार, लय, यति, और पाणि निश्चित रूप में एक दूसरे से स्थिर संबंध रखते थे। गीतों में जिन अंगों और कलाओं को रखा जाता था वे ही ध्रुवाओं में छंद और वृत्त के रूप में प्रगट होते थे। ध्रुवाओं में त्र्यस्र और चतुरस्र ताल रहती थी। निश्चित अक्षरों से युक्त हो, नियत यति हो तथा छंदयुक्त हो उसी गीत में ताल वादन बताया है।

छंद के अनुसार ताल धारण होता था—

(1) सभी गुरू अक्षरों वाला—ईश दक्ष सर य? ।

(2) तीन अक्षरों के पाद में मध्यवर्ण लघु—

दानव दूलमन् पातु मां सोऽद्यन् ।

(3) तीन अक्षरों के पाद में आदि वर्ण लघु—उमेश गुरेन्द्र सदानु नातु ।

(4) तीन अक्षरों के पाद मे दो लघु और एक गुरु क्रम से हो—

अधिप विरते मन्मो दहनि ।

(5) चार अक्षरों के पाद म दूसरा वर्ण लघु—

वाति वात पुष्पवाही ।

(6) चार अक्षरों के पाद में तीसरा तथा चौथा लघु—

ईदयक शरवित साहिहति हसीवगु ।

(7) चार अक्षरों के पाद मे प्रथम दो वर्ण लघु अंतिम दो वर्ण गुरु—

ववन्त अतिभत बम हातो परिधिम ।

इसी प्रकार पांच, छह, आदि अक्षरों से निर्मित लघु गुरु की भिन्नता के आधार पर अनेक छंदों एवं गानों के साथ युग्म, अयुग्म मिश्र प्रकारों के तालों का धारण होता था। इन गानों म छ न्दों के अनुसार पादभाग तथा कुल मात्रा संख्या के आधार पर ताल निश्चित किया जाता था।

यदि वर्तमान भातखण्डे तालपद्धति को ध्यान म रखकर हम भरत के तालविधि को देखें तो संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार होगा—

(1) वर्तमान म तालों की संख्या निश्चित नहीं है तथा यह भी निश्चित नहीं है कि शास्त्रीय संगीत मे कितने ताल प्रयुक्त होंगे। भरत ने मार्गी संगीत के लिए निश्चित पांच ताल बनाये हैं।

(2) वर्तमान में तालों की मात्रा अंक (12, 16) आदि द्वारा प्रकट की जाती है। भरत ने तालों की मात्राएं अंकन द्वारा नहीं बताई वरन उसे ताल के खंडों के लघु गुरु, प्लुत चिन्हों द्वारा जाता जाता था—

जैसे—चच्चत्पुट= ऽ ऽ । ऽ' = 2, 2, 1, 3 = 8 मात्रा

(3) तालों के विभाग उतने ही होते थे जितने चिन्ह हो—

जैसे—चच्चत्पुट के ऽ ऽ । ऽ' चार भाग।

वर्तमान के अनुसार विभाग (खंड) दर्शाने के लिए प्रयुक्त खड़ी लकीर का कोई उपयोग नहीं होता था।

(4) वर्तमान भातखंड ताल लिपि म खंड या विभाग की पहली मात्रा के नीचे तालों के लिए 2,3,4,5 आदि अंकों का, सम (पहली ताली) के लिए × चिन्ह

का तथा खाली के लिए 'O' चिह्न का उपयोग किया जाता है किन्तु भरत ने इस प्रकार के कोई चिह्नों का संकेत नहीं दिया है। भरत ने इन (ताली, खाली) के भागों को दर्शाने के लिये सशब्द और निःशब्द क्रियाओं के नामों के प्रथम अक्षर को लिखकर ताली और खाली को बताया है। (सशब्द और निःशब्द क्रियायें पूर्व में बताई गई है) 1)

उद – मार्गी ताल चच्चत्पुट, मात्रा—8, भाग—4, ताली—4, खाली–X हरेक भाग म क्रम से 2, 2, 1, 3, मात्राएं

ऽ	ऽ	।	ऽ॰	—	चिन्ह
गुरु,	गुरु,	लघु,	प्लुत	—	चिन्हनाम
2	2	1	3	—	मात्रा 8
स	श	ता	शॅ		
सन्निपात	शम्या	ताल	शम्या		

(4) वर्तमान भातखंडे तालीलिपि म तालों के निश्चित ठेके होते है। भरत न तालों के कोई ठेके नही बताये है।

(5) वर्तमान ताल पद्धति मे कुछ निश्चित पाटवर्ण माने जाते हैं, यद्यपि उनकी संख्या के बारे में वैचारिक मतभेद है।

भरत ने निम्न 16 पाटवर्ण पुष्कर (मृदंग) के लिए बताये है —

क, ख, ग, घ, ट, ठ, ड, ढ, त, थ, द, ध, म, र, ल, ह।

(6) वर्तमान म तबले के दायें बायें पर या पखावज (मृदंग) के दायें बायें मुख पर निश्चित पाटवर्ण निकालने के नियम है। उसी अनुसार भरत ने पुष्कर के आंकिक मृदंग के दाये मुख पर क, ट, त, र ठ द, घ, बाये मुख पर ग, ह, और और ध। ऊर्ध्वक मृदंग के मुख पर थ। आलिंग्य मृदंग के मुख पर, क, र, ण, ध, थ, ल ये वर्ण निकाले जाना बताया है।

(7) वर्तमान पाटवर्णों के व्यंजनों म स्वर संयोग से उत्पन्न अक्षरों के अनुसार भरत ने भी व्यंजन स्वर संयोग (अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः, इन स्वरों द्वारा) बताया है।

(8) वर्तमान संयुक्त व्यंजनों (वर्णो) क्ड, आदि के समान भरत ने भी क्ल, त्र, द्रा, आदि वर्ण बताये है।

(9) वर्तमान म तबला या पखावज पर वर्णो को निकालने की एक निश्चित क्रिया होती है जिसे हम वादन शैली भी कह सकते है। भरत ने पंचपाणि प्रहत के अनुसार इसको स्पष्ट किया है।

भरत ने 4 भाग बताये है जिनके अनुसार पुष्कर के तीनों मुखों में प्रथक प्रथक उपयोग (प्रहार) द्वारा या संयुक्त प्रहारों द्वारा द्विमात्रिक, त्रिमात्रिक चतुर्मात्रिक, पंचमात्रिक, षटमात्रिक बोलसमूह बताये है।

(10) वर्तमान तालों के वादन (विस्तार) में प्रयुक्त, कायदा, पेशकार, परन टुकड़े आदि प्रकार की किन्ही बंदिशों का उल्लेख भरत ने नहीं किया है। उक्त ध्रुवाओं, छंदों के अनुसार वादन बताया है। इसमें निश्चित बोल बजाने का बंधन नहीं था। बंधन था तो मात्रिक छंदों और वर्णिक छंदों के अनुसार वादन का।



'संगीत-रत्नाकर' पर आधारित देशी ताल पद्धति

भरत के समय तक संगीत वैदिक साम्हूणोतक सीमित था। भरत ने सर्वप्रथम नाट्य के प्रयोग में सांगितिक गायन, वाद्य, नृत्य तीनों विधाओं को उपयोग में लाया। शायद तभी से संगीत का जन जन में प्रचार एवं प्रसार प्रारंभ हुआ होगा। गुप्तकाल (ई. स. 320 से 600) में 5वीं सदी के लगभग कालिदास ने अपने ग्रंथों में (जो संगीत ग्रन्थ नहीं थे) सांगितिक शब्दों का प्रयोग किया है। विक्रमोर्वशी नाटक में द्विपदी, चर्चरी, गीति (प्रबंध) का नाम चर्चरीताल के नामकरण से प्रमाणित होता है। विष्णुशर्मा कृत पंचतंत्र की कहानियों में सांगितिक उपादानों का उल्लेख है। हर्षवर्धन काल (600-650 ई. स.) में महाकवि बाणभट्ट ने कई संगीतमय रचनाओं का निर्माण किया। इसके बाद के काल (8 वीं से 10वीं सदी) में भारतवर्ष में छोटे छोटे राज्य बने एवं इस कारण संगीत का विकास अवरुद्ध हो गया। (11वीं सदी के पूर्व से ही भारत पर मुस्लिम आक्रमण प्रारंभ हो गये थे। मुस्लिमों के आगमन के साथ ही प्राचीन भारतीय संगीत पतनोन्मुख होता चला गया। अब संगीत जन जन के साथ मंदिरों, मठों तथा लोकों तौर पर फलता फूलता रहा था)

(हमने देखा कि भरत के बाद के काल में संगीत का जन जन में प्रचार होने लगा था। यद्यपि भरत के बाद शारंगदेव के काल तक के सभी ग्रन्थकारों ने भरत मत का पालन किया तथापि उसमें देशी के रूप में परिवर्तन होने लगा। 'नंदिकेश्वर ने' भरत मत से हटकर द्रुत, लघु, गुरु, प्लुत एवं काकपद इन मात्रिक काल प्रमाणों को अपने ग्रन्थ 'भरतार्णव' में ताल अक्षर के रूप में उद्धृत किया है। उसी प्रकार कुछ तालों के बोल भी दिए हैं। नारदकृत 'संगीत मकरंद' ग्रन्थ में मार्गी एवं देशी ऐसे कुल 101 तालों की परिभाषा की गई है। दंतिल, मतंग, कोहल, अभिनवगुप्त, परमर्दी, नान्यदेव आदि ग्रन्थकारों ने ग्रन्थ लिखे थे ऐसा अन्य ग्रन्थकारों के ग्रन्थों में उनके मत का प्रतिपादन किये जाने से सिद्ध होता है। इनमें से कुछ ग्रन्थकारों के ग्रन्थ पूर्ण अपूर्ण रूप में उपलब्ध हैं तथा कुछ के नहीं। इस कालकी राजनैतिक स्थिति, लोकरुचि, संस्कृति पर प्रहार, आदि कारणों से संगीत पर इसका प्रभाव होना स्वाभाविक था। मार्गी के साथ देशी तालों का महत्व बढ़ता गया। तालों का निर्माण होना, पाटाक्षर निकालने की शैली का विकास, तालों के बोलों का बाहुल्य, लोक अवनद्ध वाद्यों का महत्व एवं उनका वादन आदि बातों

स्पष्ट होता है कि शास्त्रीय संगीत का प्रभाव कम होने लगा था। इन सारी ब
का परिणाम ही शायद शारंगदेव कृत 'संगीत रत्नाकर' था।

शारंगदेव रचित 'संगीत रत्नाकर' ग्रन्थ भरत के प्राचीन नाट्यशास्त्र ग्रन्थ
समान मध्ययुग का सर्वश्रेष्ठ संगीत ग्रन्थ कहा जाता है। शारंगदेव का क
13 वी सदी माना जाता है। शारंगदेव को शायद यह आभास होने लगा था
कहीं प्राचीन संगीत मतों का लोप न हो जाये, इसी कारण (उनके स्वयं के उल
खानुसार) इन्होंने देश भ्रमण करके संगीत के विद्वानों से उनके मत एकत्र कि
उसी प्रकार भरत से लेकर अपने पूर्व के सभी ग्रन्थकारों के ग्रन्थों का अध्ययन
अपने संगीत ग्रन्थ 'संगीतरत्नाकर' की रचना की। इस ग्रन्थ में उन्होंने भरत
कुछ मतों का (मार्गीताल) वर्णन तो किया ही है साथ ही लोकरुचि को ध्यान
रखकर देशी संगीत, देशी ताल एवं अवनद्ध वाद्यों का विस्तृत विवेचन किया है।

'संगीत रत्नाकर' के कुल 6 अध्याय है जिनमें पांचवा अध्याय तालाध्याय त
छठा अध्याय वाद्याध्याय है। तालाध्याय के प्रारंभ में ही उन्होंने ताल की व्याख
करते हुए लिखा है—

तालस्तल प्रतिष्ठायामिति धातोर्घञि स्मृत ।
गीत वाद्य तथा नृत्य यतस्ताले प्रतिष्ठितम ।।

स्थिरता से स्थापित होने वाले तल धातु में 'अ' प्रत्यय लगाकर ताल श
की व्युत्पत्ति हुई है। गायन वादन तथा नृत्य को ताल से ही स्थिरता प्राप्त होत
है। लघु आदि प्रमाण की क्रियाओं द्वारा मापा जाने वाला और गीतादि के परिमाण
को धारण करने वाला ताल ही होता है।

तालों के दो भेद बताये है, मार्गी एव देशी। उन्होंने भी भरत के समान थो
अन्तर करते हुए मार्गी तालों का तथा दश प्राणों का उल्लेख किया है।
यथा —

काल—मात्रा प्रमाण यह ताल का समय (काल) मापक होता है। एक मात्र
काल 5 निमेष काल के बराबर होता है।

मार्ग—भरत के समान ही मार्ग बताये है। मार्गों में प्रयुक्त 8 मात्राओं
ध्रुवका, सर्पिणी, कृष्णा, पद्मिनी, विसर्जिता विक्षिप्ता, पताका, पतिता, नाम दि
है।

क्रिया—भरत के समान ही सशब्द तथा निःशब्द क्रियाएं बताई है।

अंग—तालनामों के यथाक्षर के अनुसार द्रुत लघु, गुरु, प्लुत आदि को अंग
कहा है।

ग्रह—भरत के समान ही समपाणि (समग्रह), अवपाणि (अतीत) और उप
रिपाणी (अनागत) ये ग्रह बताये है।

जाति भरत के समान ही मार्गी तालों की मुख्य 2 जातियां त्र्यस्र तथा चतुरस्र बताई है। युग्म (चच्चत्पुट) के 3 तथा अयुग्म (चाचपुट) के 6 भेद (प्रकार) बताये है। इन दोनों के मिश्रण से मिश्र व संकीर्ण भेद बताये है।

कला—शारंगदेव ने नि:शब्द क्रिया को भी कला कहा है। (अध्याय 5/श्लोक) तथापि भरत के अनुसार ही यथाक्षर, द्विकल, चतुष्कल इस प्रकार कला प्रमाण पर तालों के भेद बताये है। सशब्द क्रिया को पात तथा कला दोनों रूप में उल्लेखित किया है। युग्म और अयुग्म के कला प्रमाण के आधार पर भेद बताये हैं।

लय—क्रिया के बाद की विश्रांति ही लय होती है। (अर्थात दो मात्राओं के बीच का काल ही लय कहलाता है।) लय 3 प्रकार की द्रुत, मध्य व विलंबित बताई है।

यति—लय प्रयोग के नियमो को यति कहते है (6/47) यति 3 प्रकार की समा, स्रोतोगता तथा गोपुच्छा बताई है।

प्रस्तार—मार्गी तालों के प्रस्तार भरत समान ही बताये है।

देशी ताल प्रकरण

शारंगदेव ने देशी की व्याख्या करते हुए कहा है कि देश देश के (प्रांत अथवा राज्य के) जन जन मे प्रयुक्त रुचि पूर्ण एवं मनको भाने वाले लोक प्रिय गायन, वादन व नृत्य देशी कहे जाते हैं। विभिन्न जाति, सम्प्रदाय आदि मे व्याप्त संगीत देशी संगीत कहा है।

यहा यह ध्यान देना आवश्यक है कि मुगलों के आक्रमण तथा भारत में छोटे छोटे राज्यों के आपसी मतभेदों के कारण प्राचीन संगीत भी बिखर गया था। इसी कारण प्रत्येक राज्य में लोगों के रुचिनुसार गायन वादन तथा नृत्य का प्रसार होता गया। हम कह सकते है कि शास्त्रीय संगीत के स्थान पर लोक संगीत, लोक वाद्य एवं छोटे तालों का महत्व ज्यादा बढ गया था। शारंगदेव ने अलग अलग राज्यों में घूम घूमकर वहा के गुणिजनों से अलग अलग प्रकार के गायन, वादन, नृत्य और तालो का अध्ययन किया तथा उसी आधार पर 120 देशी तालो की रचना की।

तालो की रचना के लिए लिपि चिन्हों की आवश्यकता महसूस हुई। शारंगदेव ने द्रुत—1/2 मात्राकाल लघु–1 मात्राकाल, गुरु–दो मात्राकाल प्लुत–3 मात्राकाल इस प्रकार चिन्ह बताये। इसके अतिरिक्त, विराम चिन्ह भी बताया। इस चिन्ह का प्रयोग ताल की आखिरी मात्रा पर ही होता था तथा जब इसका प्रयोग होता था तब वह मात्रिक चिन्ह डेढ गुने मात्रिक काल का समझा जाता था। चिन्ह इस प्रकार माने —

द्रुत=0, लघु=।, गुरु=ऽ, प्लुत ˜, विराम=—।

विराम का उद —

अस ।। 0 0˜ =यहां अंतिम द्रुत पर विराम चिन्ह बताया गया है जो

अंतिम दल के बाद 1/4 मात्रिक काल का विच्छेद होगा (विराम को तालका अ यव नही समझना चाहिए। कल्लिनाथ ने भी बताया है)

शारंगदेव ने 120 तालो के अलावा अन्यताल भी निर्माण होना सभव बता हैं किन्तु लक्षभाग मे (यहा लक्षभाग का अर्थ शारंगदेव का दशी तालो का द्योतम समझिये) वे ताल प्रचार म न होने के कारण इनका शास्त्र मे उल्लेख नही कि है। 120 तालो को और उनके भेदो को जानने के लिए 19 प्रत्यय (नियम) बता हैं।

19 प्रत्यय इस प्रकार है—

(1) प्रस्तार (2) सख्या (3) नष्ट (4) उद्दिष्ट (5) पातालक (6) दलमे (7) लघुमेरु (8) गुरुमेरु (9) प्लुतमेरु (10) सयोगमेरु (11) खडप्रस्तार (12 लघुमेरु नष्ट (13) लघुमेरु उद्दिष्ट (14) दलमेरु नष्ट (15) दलमेरु उद्दिष्ट (16 गुरुमेरु नष्ट (17) गुरु मेरु उद्दिष्ट (18) प्लुतमेरु नष्ट (19) प्लुतमेरु उद्दिष्ट

अब प्रत्येक प्रत्यय का वर्णन इस प्रकार होगा —

(1) प्रस्तार—ताल का प्रस्तार उनके चिन्हो के द्वारा किया जाता है कोई भी ताल लेकर उस ताल के चिन्हो मे प्रथम चिन्ह को विस्तारित करेंगे (ल का विस्तार नही होगा) तो वह तालका एक भेद होगा। इस प्रकार क्रमश चिन्ह का प्रसारित करने पर एक ही ताल के अनेक भेद हो सकते है। जब कोई ताल जिसके चिन्ह दो गुरु होंगे तो उसका प्रस्तार इस प्रकार होगा —

ऽ	ऽ	=	4 मात्रा
। ।	। ।	=	4 मात्रा
0 0 ।	0 0 ।	=	4 मात्रा
0 । 0	0 । 0	=	4 मात्रा
। 0 0	। 0 0	=	4 मात्रा
0 0 0 0	0 0 0 0	=	4 मात्रा

अब यदि प्रथम चिन्ह के एक प्रस्तार के साथ दूसरे चिन्ह के 6 प्रस्तार जोडेंगे तो 6 × 6 = 36 प्रस्तार एक ही ताल के होंगे तथा मात्रा 4 ही रहेंगे।

कलानिधि व सुधाकर टीका के अनुसार केवल लघु केवल गुरु, केवल प्लुत के प्रस्तार देखिये—

लघु प्रस्तार—

।	(1)
0 0	(2)

गुरु प्रस्तार—

ऽ	(1)
। ।	(2)
0 0 ।	(3)
0 0 ।	(4)
। 0 0	(5)
0 0 0 0	(6)

प्लुत प्रस्तार—

S̃	(1)
S	(2)
0 0 S	(3)
S ।	(4)
। । ।	(5)
0 0 । ।	(6)
0 । 0 ।	(7)
। 0 0 ।	(8)
0 0 0 0 ।	(9)
0 S 0	(10)
0 । । 0	(11)
। 0 । 0	(12)
0 0 0 । 0	(13)
S 0 0	(14)
। । 0 0	(15)
0 0 । 0 0	(16)
0 । 0 0 0	(17)
। 0 0 0 0	(18)
0 0 0 0 0 0	(19)

इस प्रकार लघु के कुल दो, गुरु के कुल 6 तथा प्लुत के कुल 19 प्रस्तार होंगे। इन प्रस्तार के आधार पर एक ही ताल के अनेक भेद निर्माण हो सकते है।

(2) संख्या — | 1 | 2 | 3 | 6 | 10 | 19 | 33 |

संख्या इस गणितीय प्रत्यय द्वारा लघु गुरु, तथा प्लुत के प्रस्तारों के अन्त में द्रुत, लघु, तथा गुरु के कितने प्रस्तार होंगे इनकी संख्या ज्ञात की जा सकती है।

सर्व प्रथम 1, 2 इन अंकों को क्रम से लिखे। इसके बाद प्राप्त अंतिम संख्या 2 की बायी ओर की 2 री, 4 थी 6ठी संख्या जोड़कर आगे लिखते चले।

(4 थी के अभाव मे 3 री तथा 6 ठी के अभाव मे 5 वी संख्या को जोड़े) 2 की दूसरी बायी ओर की संख्या 1 मिलाकर (2+1=3) 3 संख्या 2 के आगे लिखे। इस प्रकार 1, 2, 3, ये संख्याए प्राप्त हुई। अब 3 की बायीं ओर दूसरी संख्या 2 तथा चौथी संख्या के अभाव में 3 री संख्या एक का जोड करे (3+2+1=6) जोड़ 6, 3 संख्या के आगे लिखे। इस प्रकार क्रम से 1, 2, 3, 6 संख्याए प्राप्त होंगी। अब —6 के बाया ओर को दूसरी संख्या 3 तथा चौथी संख्या 1, 6 में जोड़कर (6+3+1=10) 10 संख्या प्राप्त होगी वह 6 के आगे लिखे अब 10 के बायी ओर की दूसरी संख्या 6+चौथी संख्या 2+छठी के अभाव में पाचवी संख्या 1 को 10 मे जोड़कर (10+6+2+1=19) प्राप्त 19 यह संख्या 10 के आगे लिखें।

अब 19 के बायी ओर की दूसरी संख्या 10+चौथी संख्या 3+छठी संख्या 1 को 19 मे जोड़कर (19+10+3+1=33) प्राप्त 33 संख्या लिखे।

इन प्राप्त संख्याओं को इस भांति बायी मात्रा के अनुसार विभाजित कर सके —

संख्या—	1	2	3	6	10	19	33
मात्राकाल—	$\frac{1}{2}$	1	$1\frac{1}{2}$	2	$2\frac{1}{2}$	3	
चिन्ह —	या द्रुत 0	या लघु ।		या गुरु S		या प्लुत S̃	

इस श्रेणी से हम जान सकते हैं कि लघु प्रस्तार के अन्त में द्रुत चिह्न वाले प्रस्तार 2 होंगे, गुरु के प्रस्तार के अन्त में द्रुत चिह्न वाले प्रस्तार 3 होंगे तथा अन्त में लघु वाले प्रस्तार 2 होंगे। प्लुत के प्रस्तार में अन्त में द्रुत वाले 10, अन्त में लघु वाले 6, तथा अन्त में गुरु वाले 3 प्रस्तार होंगे।

(3) नष्ट —लघु गुरु अथवा प्लुत के प्रस्तारों में से निश्चित किसी प्रकार के नम्बर का प्रस्तार कौन सा? यह नष्ट हुआ। अर्थात् प्रस्तार के निश्चित नम्बर के आधार पर कौन सा स्वरूप होगा यह जानने की विधि 'नष्ट' है।

(4) उद्दिष्ट—जब लघु आदि के प्रस्तारों में कोई चिह्न बताकर पूछा जाय कि यह कौन से नम्बर का प्रस्तार है तो यह उद्दिष्ट होगा।

उदा —। ।,00, यह प्लुत के प्रस्तार में आता है। इसलिये प्लुत के प्रस्तार संख्या 19 तक 1, 2 3, 6, 10, 19—इस प्रकार लिखे। अंतिम दो द्रुत होने से 10 और 6 से प्राप्ति नहीं होती। बाद में दूसरे लघु द्वारा 3 अंक प्राप्त हुआ। प्रथम लघु से 2 अंक प्राप्त हुआ। 2 सांतर पतित है, अतः 3 में से 2 घटाने पर 1 प्राप्त होगा। पुनः प्राप्त 3 में (घटाने पर) प्राप्त 1 जोड़ने पर 4 संख्या प्राप्त हुई। पुनः प्रस्तार संख्या 19 में से प्राप्त 4 संख्या घटाने पर 15 अंक प्राप्त हुआ। अर्थात यह प्लुत का 15 नम्बर का प्रस्तार होगा।

(5) पाताल —लघु, गुरु एवं प्लुत के प्रत्येकों के प्रस्तारों में कुल कितने कितने द्रुत होंगे यह जानना पाताल होता है।

1	2	3	6	10	19
1/2	1	1½	2	2½	3
द्रुत	लघु		गुरु		प्लुत
1	2	5	10	22	44

सर्वप्रथम पहले खाने में (द्रुत के नीचे) 1 लिखेंगे तथा दूसरे खाने में दो लिखेंगे। तीसरे खाने में (दो नम्बर के दोनों खाना के 2+2 तथा पहले खाने का 1) (2+2+1)=5 लिखेंगे। उसके बाद तीसरे खाने के 3+5 में दूसरे खाने के 2 जोड़कर (5+3+2=10) प्राप्त संख्या चौथे खाने में लिखेंगे। इसके बाद ऊपरी चौथे खाने के 6+नीचले चौथे खाने के 10+5 (दस के पहला अंक) तथा बायी ओर का चौथा नम्बर का अंक 1 जो होंगे इस प्रकार 6+10+5+ +1=22 यह अंक प्राप्त होगा जो पाँचवे खाने में लिखेंगे। इसके बाद ऊपरी 5वें खाने के 10+नीचे के पाँचवें खाने के 22+बायें के पूर्व का अंक 10+ बाईस से बायी ओर का चौथा अंक 2 जोड़कर (10+22+10+2=44) प्राप्त 44 अंक छठे खाने में लिखेंगे। इस प्रकार हम लघु प्रस्तार में कुल द्रुत संख्या 2 गुरु प्रस्तार में कुल द्रुत संख्या 10 तथा प्लुत प्रस्तार में कुल द्रुत संख्या 44 प्राप्त होगी।

रत्नाकर काल से वर्तमान काल तक ताल पद्धति का विकास एवं इतिहास

(कर्नाटकी एवं उत्तर भारतीय ताल पद्धति)

ताल पद्धति, ताललिपी पद्धति अथवा तालांकन पद्धति से तात्पर्य यह होता है कि ताल में लगने वाले समय का मापन मापन के लिये मापक इकाई, रचना सिद्धांत, ताल का स्वरूप स्वरूप को लिखित रूप में प्रस्तुत करने के लिये अंग या चिन्ह, गठन की प्रक्रिया (क्रिया) मार्ग, ग्रह, जाति, लय, यति, प्रस्तार पाटवण, पाटाक्षर, ठेका विभाग आदि का वर्णन। इन सबको लिखित रूप प्रस्तुत करना ही तालांकन पद्धति कहलाती है।

शारंगदेव ने अपने ग्रंथ 'संगीत रत्नाकर' में ताल की परिभाषा इस प्रकार की है "ताल धातु से उत्पन्न होने वाला, गीत वाद्य नृत्य को स्थिरता प्रदान करने वाला, लघु इत्यादि मापक क्रियाओं से मापा जाने वाला तथा गीत वाद्य और नृत्य को परिमाण धारण कराने वाला काल ही ताल है।" उन्होंने प्राचीन मार्गी एवं स्वनिर्मित देशी ऐसे तालों के भेद बताये हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राचीन (भरतकालीन) तथा शारंगदेव कालीन ताल एवं ताल पद्धति में अंतर था।

शारंगदेव द्वारा दी गई ताल की परिभाषा स्पष्ट है एवं यह वर्तमान काल में भी मान्य है। प्राचीन एवं वर्तमान तालों में, तथा ताल पद्धतियों में बहुत अंतर दिखाई है। इसके कई कारण हो सकते हैं। जैसे—मध्ययुग की सामाजिक स्थिति, ऐतिहासिक स्थिति, अभिरुचि में बदलाव, संगीत में बदलाव आदि। ऐसा कहते हैं कि समय परिवर्तनशील होता है एवं इसका असर मानव जीवन के हर पहलू पर पड़ता है। फिर संगीत इससे अछूता कैसा रह सकता है। प्राचीन ताल पद्धति में बदलाव आने का सबसे बड़ा कारण उसकी जटिलता निश्चित तालों में उसके ठेके न होना आदि हो सकते हैं। वर्तमान कुछ ताल पद्धतियों में, ताल, ताल निर्माण के सिद्धांत आदि प्राचीन तालों के समान पूर्णरूप से शास्त्रोक्त न होते हुए भी सरल होने से इनका प्रचार में आना अवश्यंभावी था।

शारंगदेव का जीवन काल 13 वीं सदी माना जाता है। मुस्लिमों के आक्रमणों के कारण तथा भारतीय राज्यों और राजाओं के पतन के कारण हमारे प्राचीन संगीत का पतन हो गया। विशेषकर उत्तरी भारत में तो प्राचीन संगीत परम्परा जिसमें ताल लिपि भी आती है लुप्त प्राय हो गई।

शारंगदेव के बाद 1500 ई. स. तक शारंगदेव के ग्रंथ को ही आधार मानकर लगभग सारे ग्रंथ लिखे गये। सिंह भूपाल (लगभग 1350 1400) तथा

कल्लिनाथ (15 वीं सदी) के क्रमश "सुधाकर" और "कलानिधि" य रत्नाकर पर लिखे टीका ग्रंथ है। इन ग्रंथो मे शारङ्गदेव के मतो का ही टीका रूप मे विवेचन किया है। इसी काल में जौनपुर के सूबेदार (सुल्तान) इब्राहिम शर्की द्वारा 'संगीत शिरोमणि' इस ग्रंथ की रचना की गई। 15 वीं सदी के मध्यमे ही मेवाड़ अधिपति राणा कुंभ ने 'संगीत राज' ग्रंथ की रचना की। इसका आधार ग्रंथ भी संगीत रत्नाकर ही था। इस प्रकार हम देखते है कि 15 वी सदी तक शारंग देव उल्लेखित ताल एवं ताल पद्धति का प्रमुख रहा।

हमें यहाँ ध्यान देना चाहिये कि 15 वीं सदी तक उत्तरी भारत में मुस्लिम प्रमुखता के कारण भारतीय प्राचीन संगीत वाद्यों पर मुस्लिम संस्कृति का असर पड़ा। संगीत मुस्लिम बादशाहों के मनोरंजन का साधन बना। बादशाहों के दरबारियों द्वारा ही एक अलग प्रकार के वादन को एवं ख्यालादि गायन को महत्व दिया जाने लगा। दक्षिण भारत मे मुस्लिमो के आक्रमण से उत्पन्न अराजकता के कारण संगीत का मुक्त रूप मे विकास नहीं हुआ तथापि जनजन मे, मंदिरो मे, मठों में छोटे छोटे सूबेदारो की सभाओं में तथा उत्सवों के रूप मे संगीत की परम्परा बरकरार रही। दक्षिण भारत में संगीत देशी रूप में विकसित होने लगा था तथा देशी संगीत के अनुरूप "सप्तसूलादि" ताल एवं उसका वादन प्रकार सामने आया। इसके प्रणेता "पुरंदरदास" थे, जिन्हे वर्तमान कर्नाटकी संगीत पद्धति का भीष्मपितामह कहा जाता है। तभी से कर्नाटक संगीत पद्धति प्रारम्भ हुई। पुरंदर दास का जीवनकाल 1480 से 1564 माना जाता है।

अब हम उत्तर भारत के संगीत पर विचार करेंगे। मुस्लिम संस्कृति के कारण उत्तर भारतीय संगीत पर फारसी तथा ईरानी संगीत का प्रभाव पड़ा। अल्लाउद्दीन खिलजी के दरबार में (1253 1315) अमीनुद्दीन मुहम्मद हुसन 'खुसरो' दरबारी गायक तथा मन्त्री (अमीर) के रूप में सेवारत थे। इन्होंने ईरानी पाट (मुकाम) के आधार पर राग वर्गीकरण लाया तथा भारतीय मूर्छना पद्धति को अमान्य किया। ऐसा भी कहा जाता है कि अमीर खुसरो ने नवीनराग, कव्वाली ख्यालादि नवीन गीत प्रकार, तथा पश्तो सवारी सूलफाक – आदि नवीन तालों की रचना की तथा सितार, तबला आदि वाद्यों का निर्माण किया। अमीर खुसरो (13 14 वी सदी) का उपरोक्तानुसार जो वर्णन उपलब्ध है वह कहां तक सत्य है कहा नही जा सकता, कारण इसके सम्बन्ध मे ठोस प्रमाण मौजूद नही है। अमीर खुसरो की कई हिन्दी काव्य रचनाएं है जिसके आधार पर उसे छन्दों का ज्ञान होगा यह माना जा सकता है। सम्भव है कि छन्दों और प्राचीन ताल पद्धति के आधार पर नवीन गीत प्रकारों के लिये उपयुक्त ताल एवं ठेके उसने प्रचार में लाये होंगे।

संगीत रत्नाकर के बाद 16वीं तथा 17 वीं सदी का काल (अकबर 1556 1605 तथा शाहजहां 1627 158) उत्तरी भारत में प्राचीन संगीत का अस्त

प्रकार के संगीत के विकास काल रहा। अकबर के दरबार म 36 प्रसिद्ध संगीतज्ञ थे। इसी काल में ग्वालियर नरेश मानसिंह तोमर ने ध्रुवपद गायकी को प्रारम्भ किया तथा उसे प्रोत्साहित किया। 1658 से 1707 ई स का औरंगजेब का काल संगीत के लिए दुखद काल रहा तथापि इस काल म भी संगीत ग्रंथों की रचनाएं की गई। 18 वी सदी का मुगल बादशाह मुहम्मदशाह रंगीले का (1729–1740) काल संगीत का उच्चकाल रहा। इसी काल मे ख्याल गायकी एवं अन्य श्रृंगार युक्त गीतों का अधिक प्रचार एवं प्रसार हुआ। 18 वी सदी का उत्तरार्द्ध राजनैतिक उथल पुथल का काल रहा

19वी सदी म संगीत, कुछ कुछ रियासतों के राजाओं के दरबारो म तथा घरानेदार गुरु शिष्य परंपरा के अन्दर सीमित होकर रह गया। आम लोगों म संगीत रुचि नहीं रही तथा संगीत एक मनोरंजन के साधन के रूप मे निम्न श्रेणी के लोगों की जीविका का व्यवसाय बनकर रह गया। किन्ही किन्ही महाराजाओं ने इस काल मे भी संगीत को जनसुलभ कराने का प्रयास किया।

20 वी शताब्दी म उत्तर भारतीय संगीत को समेटकर एक रूप प्रदान करने का श्रेय प वि ना भातखंडे तथा प वि दि पलुस्करजी को जाता है। इन्होंने उत्तरी भारत के संगीत के अनुसार अपनी अपनी तालपद्धति की रचना कर उसका प्रचार एवं प्रसार किया।

दक्षिण भारत म पुरंदरदास द्वारा 16 वी सदी मे दक्षिणात्य 7 तालों एवं उसके जाति भेद एवं गति भेद के अनुसार अन्य तालो की रचना बताई गई थी' दक्षिणी (कर्नाटकी) संगीत मे उसी परम्परा का निर्वाह 17 वी सदी से वर्तमान काल तक होता रहा है। कर्नाटकी संगीत म इन्ही तालो का प्रयोग होता है।

रत्नाकरोत्तरकालीन संगीत ग्रंथो मे ताल निरूपण

संगीत रत्नाकर ग्रंथ के बाद अनेक ग्रंथों म ताल निरूपण किया गया है। ये ग्रंथ दो वर्गों म रखे जा सकते हैं—

(1) जिन ग्रंथों में तालो का निरूपण एक अंश के रूप म किया गया है। ऐसे ग्रंथ है—संगीत समयसार, संगीतोपनिषत्सारोद्धार, संगीत सुधाकर, रसकौमुदी, संगीत दर्पण, संगीत मकरन्द, नर्तननिर्णय, अनूपसंगीत रत्नाकर, संगीतसारामृत, संगीत सूर्योदय संगीत सारोद्धार आदि।

(2) जिन ग्रंथो म ताल सम्बन्ध म विस्तृत विवेचन किया है। ऐसे ग्रंथ हैं —

ताल लक्षणम तालदश प्रकरणम, तालचंद्रिका, तालदीपिका, आदि।

अब हम इनमे से कुछ ग्रंथों के आधार पर तालांकन एवं उसकी पद्धति के विकास का विचार करेंगे—

(1) संगीत समयसार (पार्श्वदेव)

इस ग्रंथ में (जो लगभग रत्नाकर कालीन ही है) पूर्व ग्रंथों से हटकर काल मापक बताये है यथा —

8 क्षण = 1 लव, 8 लव = 1 काष्ठा, 8 काष्ठा = 1 निमेष, 8 निमेष = 1 कला, 4 कला = 1 तटि, 2 तटि = 1 अणुद्रुत, 2 अणुद्रुत = 1 बिंदु, 2 बिंदु = 1 लघु, 2 लघु = 1 गुरु, 3 लघु = 1 प्लुत।

(2) संगीतोपनिषत्सारोद्धार (सुधाकलश)

इस ग्रंथ में देशी तालों के लक्षणों के साथ तालों के निश्चित पाट (ठेका) भी दिये है। तालसंख्या असीमित बताई है। 73 देशी तालों का वर्णन है। ताल के अवयवों के रूप में द्रुत, लघु, प्लुत, कला, मात्रा, विराम आदि का उल्लेख है।

(3) संगीत दर्पण (पं दामोदर)

इस ग्रंथ में दश प्राणों के विश्लेषण के साथ साथ कुछ नये ताल भी दिए है।

(4) संगीत मकरंद (नारद कृत)

इस ग्रंथ में मार्गी तथा देशी ऐसा भेद नहीं है।

(5) अनूप संगीत रत्नाकर (भावभट्ट)

इस ग्रंथ मे संगीत समयसार के अनुसार ही काल मापक बताये है।

(6) संगीत पाठ

इसमें सशब्द क्रियाओं के लक्षण भिन्न बताये है। मार्गी तालों के भी पाट दिये है।

(7) संगीत दामोदर (शुभंकर)

इस ग्रंथ में भरत मुनि द्वारा मान्य तालों का विवेचन तृतीय अध्याय मे किया है। मात्राकाल, लघु द्रुत आदि के साथ साथ 60 तालों के नाम, विवरण, प्रस्तार, ताल घात आदि का वर्णन किया है।

(8) संगीत सारामृत (तुलजाजी)

इस ग्रंथ में संगीत रत्नाकर तथा नाट्य शास्त्र के आधार पर 13 वे अध्याय में ताल विवेचन किया है।

(9) संगीत सार (सवाई प्रतापसिंह)

इस ग्रंथ में मार्गी-देशी के साथ साथ सप्त सूलादि तालों का विवेचन भी किया गया है।

(10) ताललक्षणम्, तालदशप्रकरणम्, ताल चंद्रिका —

इन ग्रंथों में देशी तालों का वर्णन नहीं है। सूलादि तालों के साथ साथ ताल तत्वों का विवेचन; ताल के दशप्राणोंका विवेचन किया गया है।

उपरोक्त मध्ययुगीन ग्रंथों के आधार पर ताल धारणा में उसके अवयव क्रम यतों के मान, अवयव और आघात का सम्बन्ध, मार्गी देशी ताल भेद की समाप्ति

ताल के पाट, आदि के आधार पर प्राचीन तथा मध्ययुगीय ताल एव उसके अ कन, तालप्रयोग स्वरूप आदि मे स्पष्ट अ तर दिखाई देता है। प्राचीन काल मे गायन, वादन तथा नृत्य के साथ ताल वादन उसके उपरजन, सौन्दर्य वृद्धि, ध्वनि विभक्तता, भराव के लिए किया जाता था। ताल वादन गीत वाद्यको प्रतिष्ठा देने या उसके मान रखने के लिए नही किया जाता था। इसी कारण शास्त्रीय सगीत भी घन वाद्य वादन की सगति स सम्पन्न हो जाया करता था। अवनद्ध व द्यो के प्रमुख के साथ साथ तालके के ठेके की आवश्यकता महसूस हुई होगी। मध्ययुगीय ग्र थों में कही कही तालो के पाटा का उल्लेख है। लेकिन 19 वी सदी तक तालो के निश्चित बोलो (ठेको) को क्या स्थिति थी इस सम्ब ध म कोई प्रमाण नही है।

उत्तर भारतीय सगीत म आज यह स्थिति है कि प्रत्येक ताल का ठेका निश्चित है, यद्यपि ठेकों मे थोड़ा बहुत अ तर दिखाई देता है। कर्नाटक सगीत पद्धति में अवनद्ध वाद्य का प्रयोग उपरजन के रूप मे ही किया जाता है, तथापि अभ्यास के लिए कुछ बोल निश्चित हात है। बोलो मे तत दित तों न प्रमुख है। प्रत्येक ताल की पहली मात्रा मे तत का ही प्रयोग किया जाता है।

उदा —

(1) आदि ताल (चतस्त्र जाति)।

1	2	3	4	5	6	7	8
तत	दित	तों	न	तत	दित	तों	न

(2) रूपक ताल (चतस्त्र जाति)

1	2	3	4	5	6
त	त	त	रि	कि	ट
दि	त	त	रि	कि	ट
तों	ऽ	त	रि	कि	ट।
न	ऽ	त	रि	कि	ट

भारत वर्ष मे वतमान काल मे तीन ताललिपि पद्धतियां मुख्य रूप में प्रचलित है। (1) प वि ना भातखडे की उ भारतीय, ताललिपि पद्धति (2) प वि दि पलुस्कर की स भारतीय ताललिपि पद्धति (3) कर्नाटक (दक्षिण) ताललिपि पद्धति। इसके अलावा कुछ अन्य ताललिपिया भी है जिनका प्रचार नही के बराबर है। व है—मगुनाथ वर्मा की ताललिपि पद्धति, प ओंकारनाथ ठाकुर की ताललिपि पद्धति, रविन्द्रनाथ ठाकुर की ताललिपि पद्धति, मते ताललिपि पद्धति आदि।

वर्तमान कर्नाटकी ताल पद्धति

दक्षिण भारत के आंध्र, तमिलनाडु, केरल आदि प्रान्तों में जो संगीत पद्धति प्रचलित है उसे कर्नाटकी संगीत पद्धति कहते है। दक्षिण (कर्नाटकी) संगीत पद्धति के प्रचलित तालपद्धति को कर्नाटकी तालपद्धति कहते है। इस तालपद्धति का इति हास प्राचीन नहीं है। प्राचीन क्लिष्ट तालपद्धति के स्थान पर इस तालपद्धति का प्रचलन 15 वी 16 वी शता में प्रारम्भ हुआ। रत्नाकर काल (13 वी सदी) में ही संगीत के दो भेद हो गय थे। मार्गी तथा देशी संगीत। मुस्लिम आक्रमणों तथा आधिपत्य के कारण संगीत स्थानीय लोगो के घरों मंदिरों, मठों या फिर सामतों के महलों में सीमित होकर रह गया था। इसी कारण देशी संगीत या लोक संगीत के लिए उपयुक्त सरल तालो की आवश्यकता महसूस हुई। दक्षिण भारतीय कर्नाटकी तालपद्धति मे ताल कला एव ताल शास्त्र दोनों रूप दिखाई देत है। इसमें प्राचीन तथा मध्यकालीन दोनों प्रकार के तालांकन का समावेश है। प्राचीन काल से ही तालों का स्वरूप लयात्मक रहा है जो आज भी कर्नाटक तालपद्धति मे दिखाई देता है। गणित के सिद्धांतों का प्रयोग जितना इस ताल पद्धति में दिखाई देता है अन्य ताल पद्धितियो में नही। प्राचीन 108 तालो और वर्तमान 350 तालो में से कुछ तथा अन्य लयात्मक तालो का प्रयोग आज के कर्नाटकी संगीत में दिखाई देता है।

वर्तमान कर्नाटकी तालपद्धति का आधार सप्त सूलादि ताल है। 'राघव वेदों धतसार'' इस ग्रंथ म जिसके लेखक तथा समय का कोई ज्ञान नही है, मुख्य सप्त तालो का वर्णन है। दक्षिण भारतीय संगीत के विद्वान पंडित पुरन्दरदास ने (ई स 1480—1564), राजनैतिक दबाव के अंतर्गत भारतीय संस्कृति एवं संगीत का अध्ययन कर लोकरुचि के अनुसार व्यवहार के लिए उपयुक्त लघुत्तम तालो का प्रयोग किया। ये ताल 7 थे जिनका सप्तसूलादि के रूप म शास्त्रीय (मार्गी) एव देशी (उपशास्त्रीय या लोक संगीत) दोनों प्रकार के गीतों मे प्रयोग सफल रहा। इन तालो के सरल उपयोग के कारण लोगो ने एवं उसी प्रकार पंडितो ने इसे स्वीकार किया। इसके बाद इसका प्रचार एव प्रसार बढ़कर इस सप्तसूल ताल पद्धति ने प्राचीन तालपद्धति का स्थान ग्रहण कर लिया। शास्त्रीय संगीत के लिए अधिक उप योगी बनाने की दृष्टि से इन तालो को पंचजाति भेद के अनुसार समृद्ध किया गया। इस प्रकार इन्हीं लघु तालो से वृहत् तालो का निर्माण संभव हुआ। जिन सात तालो पर यह पद्धति आधारित है उनके चिन्ह (अंग) भी निश्चित किये गये। जस दृत 'O' 2 मात्राकाल, लघु '।' =4 मात्राकाल तथा विराम '—' 1 मात्राकाल के चिन्ह थे। तालो के रूप में इन चिन्हों का मात्राकाल जाति के अनुसार बदल जाता है। तालो में प्रयुक्त केवल लघु चिन्ह चतुरस्र जाति मे—4 मात्रिक काल, त्र्यस्र जाति में--3 मात्रिक काल मिश्रजाति म—7 मात्रिक काल, खंड जाति म—5

मात्रिक ताल तथा सकीर्ण जाति में—9 मात्रिक काल का हो जाता है। साधारण तया कोई भी ताल यदि उसकी जाति नहीं लिखी हो, तो चतुरस्त्र जाति का माना जाता है।

कर्नाटक पद्धति के सप्तसूलादि ताल एवं उनके चिह्न —

क्रम	ताल नाम	चिन्ह या अंग
1	ध्रुव	।0।।
2	मठ	।0।
3	रूपक	।0
4	झप	।0͝
5	त्रिपुट	।00
6	अठ	।।00
7	एक	।

पंचजाति भेद के अनुसार तालों का निर्माण किया गया। चतस्र, तिस्र, मिश्र खण्ड, सकीर्ण की क्रम से सातों तालों न 7×5=35 तालों की उत्पत्ति बता है। ताल किसी भी जाति का हो उसके चिन्ह (अंग) वहीं रहते है जो तालों के नाम से जुड़े है।

पंच जाति भेद के अनुसार ताल निर्माण

ताल नाम	चिन्ह जाति	त्र्यस्र	चतरस्र	मिश्र	खण्ड	सकी
(1) ध्रुव	।।0।	3,3,2 3	4 2,4 4	7,2,7,7,	5,2,5,5	9 2,9
(2) मठ	।0।	3 2 3	4,2 4	7,2,7	5,2,5	9 2,9
(3) रूपक	।0	3 2	4 2	7,2	5,2	9 2
(4) झप	।0͝	3 3	4 3	7,3	5 3	9,3
(5) त्रिपुट	।00	3 2,2	4 2 2	7 2,2	5 2,2	9 2 2
(6) अठ	।।00	3 3 2 2	4 4 2 2	7 7,2,2	5,5,2 2	9 9 2,2
(7) एक	।	3	4	7	5	9
कुल ताल संख्या		7	7	7	7	7=35

पंच जाति भेद के अनुसार तालों की मात्राएँ

ताल	नाम	त्र्यस्र	चतरस्र	मिश्र	खण्ड	सकी
(1)	ध्रुव	11	14	23	17	29
(2)	मठ	8	10	16	12	20
(3)	रूपक	5	6	9	7	11

4) झप	[illegible]	7	10	8	12
4) त्रिपुट	7	8	11	9	13
(3) अठ	10	12	18	14	22
(7) एक	3	4	7	5	9

पंच जाति भेद के अनुसार बने तालों में सबसे अधिक 29 मात्रा का ताल संकीर्ण ध्रुव तथा सबसे कम 3 मात्रा त्र्यस्र एक ताल है। यहाँ हम यह भी देखते हैं कि एक ही मात्रिक संख्या के ताल एक से अधिक भी है।

जैसे —8 मात्रा के—त्र्यस्र मठ, चतुरस्र त्रिपुट, खण्ड झप आदि। इस प्रकार समान मात्रिक तालों के होने पर भी उनकी जाति अलग होने से उनका वजन अलग अलग होगा। पंच जाति भेदों से कम मात्रिक काल के तालों की संख्या अधिक है। अतः इनका उपयोग देशी संगीत के लिये भी उपयोगी सिद्ध हुआ होगा।

कर्नाटकी संगीत के ताललिपि में लघु के अन्य 5 भेद भी बतलाये गये हैं जिसके अनुसार अधिक मात्राओं के तालों का निर्माण हो सके। यद्यपि इन बड़े तालों को व्यवहार में नहीं लाया जाता है। ये भेद निम्नानुसार हैं —

(1) दिव्यलघु — इसके अनुसार लघु की मात्रा 6 हो जाती है।
(2) सिंहलघु — इसके अनुसार लघु की मात्रा 8 हो जाती है।
(3) वर्णलघु — इसके अनुसार लघु की मात्रा 10 हो जाती है।
(4) वाद्यलघु — इसके अनुसार लघु की मात्रा 12 हो जाती है।
(5) कर्नाटकलघु — इसके अनुसार लघु की मात्रा 16 हो जाती है।

अब इन लघु भेदों के अनुसार सप्त तालों की मात्राएं—

क्र.	ताल	चिह्न	दिव्यलघु	सिंहलघु	वर्णलघु	वाद्यलघु	कर्नाटकलघु
1	ध्रुव	।0।।	6,2,6,6	8,2,8,8	10,2,10,10	12,2,12,12	16,2,16,16
2	मठ	।0।	6,2,6	8,2,8	10,2,10	12,2,12	16,2,16
3	रूपक	।0	6,2	8,2	10,2	12,2	16,2
4	झप	।̆0	6,3	8,3	10 3	12,3	16,3
5	त्रिपुट	।00	6,2,2	8,2,2	10,2,2	12,2,2	16,2,2
6	अठ	।।00	6,6,2,2	8,8,2,2	10, 10,2,2	12,12,2	16, 16, 2, [illegible]
7	एक	।	6	8	10	12	16
कुल ताल		—	7	7	7	7	7=35

यद्यपि दिव्यलघु, सिंहलघु, वर्णलघु, वाद्यलघु इन लघु भेदों के अनुसार

7 × 5 = 35 तालों का निर्माण हो सकता है किन्तु इस प्रकार क त ल निम को सर्व मान्य नही समझा जाता है। इन लघु भेदों के अनुसार तालों मात्राएँ :—

क्र	ताल	चिह्न	दिव्यलघु	सिंहलघु	वर्णलघु	वाद्यलघु	कर्नाटक
1	ध्रव	I O I I	20	26	32	38	50
2	मठ	I O I	14	18	22	26	34
3	रूपक	I O	8	10	13	14	18
4	झप	I O	9	11	13	15	19
5	त्रिपुट	I O O	10	12	14	16	20
[illegible]	अठ	I I O O	16	20	24	28	36
7	एक	I	6	8	10	12	16

गति भेद — पाच जातियों की गतिया मानकर यदि हम गति भद क अनु तालो का निर्माण करे तो 35 जाति भ से बने तालों के 35 × 5 = 175 [illegible] निर्माण होंगे। गति भेद में ताल के प्रत्येक अग को गति के अनुसार बदला जा है।

उद —यदि हम रूपक ताल को जाति एव गति भेदानुसार निर्माण करे रूपक ताल के 5 × 5 = 25 भेद निर्मित होंगे

ताल रूपक – अग I O

जाति भद के अनसार

चतरस्र	—	4, 2	—	6 मात्रा
त्र्यस्र	—	3 2	—	5 मात्रा
मिश्र	—	7 2	—	9 मात्रा
खण्ड	—	5, 2	—	7 मात्रा
संकीर्ण	—	9, 2	—	11 मात्रा

जाति के भेद के अनुसार निर्मित रूपक ताल के 5 भदों—म स यदि प्रत्यक भेद को पचगति के अनुसार उत्पन्न करे तो 5 × 5 = 25 ताल निमाण होंगे। उद —

त्र्यस्र जाति रूपक 5 गति भदों के अनुसार— चिह्न I O 3 + 2 = 5 मात्रा

चतस्र गति	3 × 4 + 2 × 4	= 20 मात्रा
त्र्यस्र गति	3 × 3 + 2 × 3	= 15 मात्रा
मिश्र गति	3 × 7 + 2 × 7	= 35 मात्रा
खड गति	3 × 5 + 2 × 5	= 25 मात्रा
संकीर्ण गति	3 × 9 + 2 × 9	= 45 मात्रा

यदि हम सप्त तालों के पंच जाति भेद के अनुसार बने (7 × 5) 35 तालों में से प्रत्येक ताल को यति भेद के अनुसार निर्माण करें तो 35 × 5 = 175 ताल निर्माण होंगे। इसी प्रकार विरामलघु, विद्लघु, वर्णलघु, वाद्यलघु तथा कर्नाटक लघु भेदों के आधार पर बने (7 × 5) = 35 तालों को भी यति भेद के अनुसार निर्माण करें तो 175 ताल और हो सकते हैं।

कर्नाटकी संगीत ताल पद्धति में गणितीय आधार पर जाति—यति भेद के अनुसार (175 + 175) = 350 तालों की निर्मिती बताई है। यद्यपि 350 तालों की निर्मिती संभव है तथापि वास्तविक व्यवहार में पंच जाति भेद (चतुरस्र, त्र्यस्र, मिश्र, खंड, संकीर्ण) के 35 तालों में से ही कुछ ताल लाये जाते हैं। पंच जाति 35 तालों के नाम द्वारम् व्यंकटस्वामि नायडू तथा गिरमाजीराव के भी ने अलग अलग दिये हैं।

गिरमाजीराव के नूतन सांकेतिक नाम ताल के जातिगत आधार पर सार्थक रचित है। उनके वर्णन के अनुसार ताल स्वरूपों का नाम निम्नानुसार होता है —

गिरमाजी राव ने वर्णाक्षरों को चार भागों में बाँटा है। यथा :—

(1) 'क' आदि नवम् वर्ण—क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ।
(2) "ट" आदि नवम वर्ण—ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध।
(3) "प" आदि पंचकम वर्ण—प, फ, ब, भ, म।
(4) "य" आदि अष्टकम वर्ण—य, र, ल, व, श, ष, स, ह।

इन भागों के आधार पर गिरमाजीराव द्वारा बताये ताल नाम के आधार पर उस ताल की जाति समझी जा सकती है। किसी ताल नाम का प्रथम अक्षर उपरोक्त वर्गों में से किसी भी वर्ग के जिस क्रम पर आता हो, वही क्रम उसकी ताल की जाति का ज्ञान करा देती है।

उद :—(1) लक्ष्मी ताल

इस ताल के नाम का प्रथम अक्षर "ल" यह य वर्ग में 3 रे क्रम पर है अतः यह त्र्यस्र जाति का ताल होगा। अब लक्ष्मी ताल त्र्यस्र जाति का कौन सा ताल है यह जानने के लिये आगे के अक्षरों से लघु द्रुत प्राप्त कर लेने पर ताल का नाम ज्ञात होगा। क्ष्मी यह दीर्घ अक्षर केवल एक लघु को बताता है अर्थात् यह एक ताल होगा। अर्थात लक्ष्मी ताल त्र्यस्र जाति का ताल होगा।

उद :—(2) वाणीनायक ताल

इस ताल के नाम का प्रथम अक्षर 'वा' यह य वर्ग में चौथे क्रम पर आता है अतः वाणीनायक ताल चतुरस्र जाति का ताल होगा। अब यह ताल कौन सा है यह जानने के लिए ताल के आगे के (वा छोड़ कर) अक्षर से लघु द्रुत प्राप्त कर

छेन पर ताल का नाम ज्ञात होगा। णो=।, ना=।, य=0, क=0 इस प्रकार लघु द्रुत ज्ञात होते है। ।।00 स्वरूप अठताल का है। अत वार्णीनायक ताल चतुरस्त्र जाति का अठ ताल होगा।

कर्नाटकी ताल पद्धति मे 350 तालो के अतिरिक्त चापुताल, देशादि मध्यादि ताल तथा नवसंधि तालो के लयात्मक स्वरूपो का उल्लेख मिलता है।

चापुताल—ये ताल देशी तालो के अन्तर्गत देशी संगीत (लोक संगीत) के अधिक उपयुक्त समझे जाते है। इन तालो में दो आघात या 1 भरी, 1 खाली होती है। इसके चार भेद है:—

(1) मिश्र चापु — (3+4=7) क्रमश 3 और 4 के 2 खंड होते है मात्रा 7।

(2) खंड चापु — (2+3=5) क्रमश 2, 3 के दो खण्ड होते है मात्रा 5।

(3) त्र्यस्त्र चापु — (1+2=3) क्रमश 1 2 के दो खण्ड होते है मात्रा 3।

(4) संकीर्ण चापु — (4+5=9) क्रमश 4, 5 के दो खंड होते है मात्रा 9।

देशादि—मध्यादि ताल—

इन तालो की प्रत्येक आवृत्ति 4 अक्षर काल की होती है। यदि 4 अक्षर काल म 3 रे अक्षर पर खाली (नि शब्द क्रिया) दर्शाते है तो वह है मध्यादि तथा प्रथम अक्षर पर खाली (नि शब्द क्रिया) बताते है तो वह देशादि ताल होगा।

नवसंधिताल—

दक्षिण भारत के मठो तथा मन्दिरों में नौ–संधि कालो के कीर्तनादि के समय जिन 9 तालो का प्रयोग किया जाता है, उन तालो को नवसंधि या नौ-संधि ताले कहते है। नौ संधियों के नाम, उनके तालो के नाम, तथा अंग निम्नांकित है—

संधि नाम	तालनाम	अंग
1 ब्रम्ह संधि	ब्रम्ह	। 8 । 8'
2 इन्द्र संधि	इन्द्र	।। 8 । 0 0
3 अग्नि संधि	मत्तापन	। 0 । 0 ।
4 यम संधि	भृ गी	। 8 ।।
5 निऋति संधि	नैऋति	।।।। 0 0
6 वरुण संधि	नव	। 0 0 0 ।
7 वायु संधि	बलि	0 0 0 ।
8 कुबेर संधि	कोट्टारी	। 8 8 8
9 ईशान संधि	टंकिरी	8 । 8

अंग—कर्नाटकी ताल पद्धति में तालों की रचना करने वाले विभागों (चिन्हों) को अंग कहते हैं। अंगों के नाम, चिन्ह तथा अक्षरकाल संख्या निम्नानुसार मानी जाती है—

अंग का नाम	चिन्ह	अक्षर काल संख्या
(1) अणुद्रुत	‿	1
(2) द्रुत	0	2
(3) लघु	I	4
(4) गुरू	S	8
(5) प्लुत	Ŝ	12
(6) काकपद	+	16

बोल—

एक अक्षर काल के कुछ बोल— त, कि, भु, तु, ध, न।

दो अक्षर काल के कुछ बोल— तक, तिध, जक, था थे, थरि, धक, धिधि, किट, थों, णक, धिमि, दिध।

चार अक्षर काल के कुछ बोल— तकजण, टिटिकिणि, तगथों, तत्थां, गिडि गिडि, दिधिधा, ताकिट, धिमिधिमि

छह अक्षर काल के कुछ बोल— धिमिधिमितत्, धिधिकिटतक किटकिटधा, गिडिगिडिदाम।

आठ अक्षर काल के कुछ बोल— धिकिटधिकिटधिण, ततथरिधिरिकिट, धिकिटतकिट तक, घुमघुम घुमकिट।

कर्नाटक सप्तताल स्वरूप की विशेषतायें

(1) प्राचीन 108 तालों में से कुछ तालों के समान कुछ ताल इसमें प्रचलित हैं।

(2) सप्ततालों में केवल 3 अंगों (लघु द्रुत तथा अणुद्रुत) का प्रयोग होता है।

(3) लघु का जब दूसरे अंगों के साथ संयोग नहीं होता तो उसका एकांग स्वरूप एक ताल का द्योतक होता है।

(4) अंग भेद के आधार पर ध्रुव, मठ, रूपक, झंप, त्रिपुट, अठ, एक ये 7 ताल अलग अलग स्पष्ट हैं।

(5) जाति भेद के आधार पर निर्मित 35 ताल बनते हैं। जाति के अनुसार लघु की मात्राएं बदल जाती हैं।

(6) प्रत्येक ताल में लघु का होना आवश्यक है।

(7) कुल ताल समान मात्रा में होने पर भी खंडों के आधार पर भिन्न हैं।

(8) सप्तताल स्वरूप में अणुद्रुत का, आदि और अंत में प्रयोग नहीं है।

(9) सप्तताल स्वरूप मे 3 से अधिक लघु, 2 से अधिक द्रुत तथा 1 से अधिक अणुद्रुत का प्रयोग नहीं है।

(10) जिन तालो में एक से अधिक लघु का प्रयोग है वहां जाति भेद मे सभी लघु एक जाति अर्थात समान मात्राओं के होते है।

(11) सप्तताल स्वरूप में गुरु प्लुत एवं काकपद अंगों का तथा उनके साथ अणु द्रुत के प्रयोग का लोप है, इस कारण प्राचीन तालो की विशिष्टता समाप्त हो गई है।

(12) सप्तताल स्वरूप में जाति भेद एवं गति भेद के गणितीय आधार पर सूक्ष्म विवेचन किया है।

(13) सप्ततालो में खाली नहीं होती।

(14) सभी ताल समसे प्रारंभ होते हैं।

(15) जाति भेद के आधार पर बने तालो के नाम अलग हो जाते है।

(16) 35 तालो म सबसे लबी ताल सकीर्ण जाति का ध्रुव ताल तथा सबसे छोटा ताल त्र्यस्त्र जाति का एक ताल है।

(17) किसी ताल की जाति के अनुसार अंक रूप में स्पष्ट करने के लिये ताल अंगों के पूर्व अथवा प्रथम अंग के ऊपर जाति बोधक अंक लिख देते है जैसे —त्र्यस्त्र जाति ध्रुव—3 । 0 । । अथवा ।³ 0 । ।

उत्तर हिन्दुस्तानी ताल लिपि पद्धतिया

उत्तरी भारत पर दक्षिण भारत की अपेक्षा विदेशी संस्कृति विशेषकर मुस्लिम तथा फारसी संस्कृति का प्रभाव अधिक रहा। 13 वी सदी में ही उत्तरी भारत के संगीत में मुस्लिम संस्कृति तथा मुसलमानो के शासन का विस्तार होने के साथ साथ भारतीय संगीत का ह्रास प्रारंभ हो गया था। मुस्लिम बादशाहो के दरबारो में संगीत एक मनोरंजन तथा भोगविलास का साधन समझा जाता था। जिस कारण श्रृंगार प्रधान गीत एवं उसके संगत के रूप में नाचन भी प्रारंभ हो गया था। मुस्लिम बादशाहो ने भारतीय संगीत के विद्वानों को जोर जबरदस्ती से अपने शरण मे लाकर, उनसे एक अलग संगीत का प्रचार एवं प्रसार करवाया। धीरे धीरे प्राचीन गीत प्रकारो के आधार पर ध्रुवपद गायनशैली तथा मुस्लिम फारसी गीत प्रकारो के आधार पर ठुमरी, टप्पा गजल, कव्वाली आदि गायन शैलियो का प्राधान्य भारतीय संगीत में बढता गया। इसी काल म ख्याल गायन भी प्रचार में आया। इन गीतों के लिए आवश्यक ताल प्रकार भी प्रचार म आये। अलग अलग सुभेदारों ने भी अपने मनोरंजन के लिए अपने सेवा म छोटे बड़े संगीतकारो को स्थान दिया तथा इस प्रकार एक ही से गीत प्रकारों के लिए अलग अलग ताल प्रकारो का निर्माण हुआ। वतमान मे भी हमें एक ही ताल के भिन्न भिन्न ठेके होने के प्रमाण मिलते है। भिन्न भिन्न गीत प्रकारों के साथ साथ जिन ताल प्रकारों का प्रादुर्भाव हुआ व इस प्रकार थे —

ध्रुवपद अंग के ताल— चौताल, सूलताल, तीव्रा, धमार, आदि ।
ख्याल अंग के ताल— तिलवाड़ा, एकताल, झपताल, झूमरा आदि ।
ठुमरी टप्पा अंग के ताल—पंजाबी, दीपचन्दी, अद्धा, टप्पा आदि ।
सुगम संगीत के ताल—केहरवा, दादरा, घुमाली पश्तो आदि ।

18 वी सदी से ब्रिटिश शासन ■ प्रवेश तथा क्रमशः प्रमुसत्ता प्राप्त करने, ब्रिटिश तथा भारतीय मुस्लिम—हिंदु राज्यों के बीच में युद्ध होने के कारण भारतीय संगीत छिन्न भिन्न हो गया था । 20 वी सदी के पूर्वार्ध म उत्तर भारत में प विष्णु नारायण भातखंडे तथा प विष्णु दिगम्बर पलुस्कर जी ने उत्तरी भारत में बिखरे संगीत का, देश के भिन्न भिन्न राज्यों, प्रान्तों रियासतों में जाकर अध्ययन किया । संगीतज्ञों की सभाए बुलवा कर चर्चा विमर्श किया, संगीत सम्मेलनों का आयोजन किया, संगीत संस्थाए स्थापित की, तथा बिखरे संगीत को एकरूपता प्रदान करने के लिये नये स्वरलिपि पद्धति तथा ताललिपि पद्धति को स्थापित किया।

भातखण्डेताललिपि पद्धति

प वि ना भातखंड जी का जन्म बम्बई प्रांत के बालकेश्वर नामक स्थान पर 10 अगस्त 1860 को हुआ । इनको संगीत का शौक बचपन से ही था । भातखंड जी ने बी ए एल एल बी तक की शिक्षा 1890 म पूर्ण की तथा उसके बाद 1904 तक आपने वकालत के साथ साथ संगीत का अध्ययन किया । तत्पश्चात आपने सैकड़ों स्थानों का भ्रमण करके संगीत साहित्य की खोज की तथा खोज के आधार पर हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति पर आधारित पुस्तकों की रचना की । इस प्रकार जीवन भर संगीत का प्रचार प्रसार करके 19 सितम्बर 1936 को परलोक वासी हुए ।

(भातखंडेजी न उ भारतीय संगीत के तालों को लिपिबद्ध करने के लिए, ताल के विभिन्न अंगों को परिभाषित किया एवं अंकों, चिन्हों एवं वर्णों द्वारा स्पष्ट किया । ताल के विस्तार, लयकारी आदि को भी लिपिबद्ध करके आम लोगों को समझने योग्य बनाया →)

मात्रा—।

(ताल में लगने वाले समय के इकाई को मात्रा कहते है, यह कहकर परिभाषित किया । मात्राओं को अंकों द्वारा स्पष्ट किया । एक ही लय में जिस ताल की मात्राए कम होंगी उतना ही उस ताल मे लगने वाला समय कम होगा, तथा जिस ताल की मात्राए अधिक होंगी उतना ही समयकाल अधिक होगा । किसी ताल की मात्राओं को 1, 2, 3, 4, 5 इस क्रम मे लिखकर दर्शाया जाता है ।

उद —

ताल दादरा —

मात्रा 6—1, 2, 3	4, 5, 6,
×	0

ताल झपताल—मात्रा 10 = 1, 2 | 3, 4, 5 | 6, 7 | 8, 9, 10
× | 2 | 0 | 3

अर्थात दादरा ताल में झपताल की अपेक्षा कम समय लगगा।

विभाग —

ताल के जाति के अथवा वजन के आधार पर जो खड किये जात है उन्हें विभाग कहते हैं' यह कहकर परिभाषित किया। विभाग को दर्शाने के लिए जहा खण्ड करना हो वहा बीच मे खड़ी लकीर के चिह्न द्वारा विभाग को स्पष्ट किय जाता है। उद —

ताल दादरा (त्र्यस्त्र जाति)—

1,	2,	3		4,	5	6
धा	धी	ना		धा	ती	ना
×				0		

ताल झपताल (खड जाति)

1,	2	3,	4,	5	6	7	8,	9,	10
×		2			0		3		
धी	ना	धी	धी	ना	ती	ना	धी	धी	ना
×		2			0		3		

ताली या भरी —

ताल के विभागो को अलग अलग जिस रूप में प्रयोगात्मक तरीके से हाथ के सशब्द और निःशब्द क्रियाओं द्वारा प्रस्तुत किया जाता है उन क्रियाओ मे सशब्द क्रिया को ताली कहते है। लिखित रूप मे सशब्द क्रिया को स्पष्ट करने के लि अंको द्वारा बताया जाता है।

जस —झपताल म प्रथम द्वितीय तथा चतुर्थ खडों के सशब्द क्रियाओं क स्पष्ट करने के लिये उन खडो की प्रथम मात्रा के नीचे ×, 2, 3 आदि अंको का प्रयोग किया गया है। यहा यह ध्यान रहे कि प्रथम सशब्द क्रिया अर्थात ताली न 1 अंक के स्थान पर × इस सम के चिह्न द्वारा दर्शाया जाता है। जिस भाग प्रथम मात्रा के नीचे जो अंक हो वह उस ताल की उसी क्रमांक की ताली हो तथा तालीं दर्शक अंतिम अंक उस ताल की कुल तालियो का द्योतक होगा।

खाली —

ताल के जिन खण्डो में निःशब्द क्रिया को प्रयोगात्मक रूप में दर्शाया जाता है उसे खाली कहते है। लिखित रूप में खाली को स्पष्ट करने के लिए 0 चिह्न का प्रयोग किया जाता है। जिस विभाग में खाली हो उस विभाग की पहली मात्रा के नीचे खाली का चिह्न लिखकर खाली को स्पष्ट किया जाता है।

जैसे —दादरा ताल का दूसरा विभाग खाली का है।

1,	2,	3	4,	5,	6
धा	धी	ना	धा	ती	ना
×			0		

सम —

ताल का वह स्थान जहा से ताल प्रारम्भ होता है अर्थात ताल की पहली मात्रा के स्थान को सम स्थान माना गया है। सामान्यत सम स्थान पर पहली ताली ही होती है। केवल रूपक ताल इसका अपवाद है। समके स्थान पर ताली हो अथवा खाली उस स्थान को समके × (गुणा) चिह्न द्वारा ही दर्शाया जाता है। जैसे

रूपकताल —

1,	2,	3	4,	5,	6,	7
ती	ती	ना	धी	ना	धी	ना
0			2		3	
×						

ठेका —

किसी ताल की निश्चित मात्रा, उसका स्वरूप, तथा उसके वजन के आधार पर उस ताल के लिए निश्चित किये गये बोल समूह को ठेका कहते है। ठेके को तबले (ढोल) द्वारा ताल की मात्रा संख्या के नीचे लिखकर स्पष्ट किया जाता है। समान मात्रा वाले तालो के ठेके उनके वजन, जाति तथा उपयोग के आधार पर अलग अलग पाये जाते है। लगभग ऐसे तालो के विभाग अलग अलग होते है। कुछ तालो के समान मात्रा तथा समान विभाग होने पर भी उनके गीत प्रकारो के उपयोगानुसार ठेके भिन्न होते हैं। जैसे —

	1,	2	3,	4,	5,	6	7	8
एकताल —	धि	धि	धागे	तिरकिट	तू	ना	क	ता
चौताल	धा	धा	दिं	ता	किट	धा	दिं	ता
	×		0		2		0	

9,	10	11,	12
धागे	तिरकिट	धी	ना
तिट	कत	गदि	गिन
3		4	

लयकारी —

एक से अधिक मात्राओं को एक मात्रा में निश्चित रूप से प्रदर्शित करने के

लिए उन सारे पाटवर्णों के नीचे चिन्ह एक मात्रा में बताना है अथवा (⌣) चिन्ह का प्रयोग करते है।

उद —

(1) एक मात्राकाल मे दो वर्ण— धागे

(2) एक मात्राकाल में तीन वर्ण—तकिट

(3) एक मात्राकाल म चार वर्ण—धागेतिट

विश्राति —

इसे ताल की भाषा में दम भी कहते है। दो वर्णों के मध्यम म यदि विश्रा काल हो तो उस लिखित रूप मे दर्शाने मे लिए एक मात्रिक काल को 'ऽ' अवग्र या (—) न्यून के चिन्ह द्वारा स्पष्ट किया जाता है। जितने मात्रा की विश्रा दर्शानी हो उतने चिन्ह उपयोग में लाये जाते हैं।

उद — धमार का ठेका,

क धि ट धी ट	धा ऽ	क ति ट	ति ट ता ऽ
×	2	0	3

उपरोक्त धमार ताल मे प्रत्येक 6 पाटाक्षरो के बाद एक मात्रा का विश्रा काल स्पष्ट किया गया है।

पलुस्कर ताल लिपि पद्धति

प वि दि पलुस्कर जी का ज म सन् 1872 के अगस्त मास मे महारा के बेलगांव मे हुआ। आप मे बाल्यावस्था से ही सगीत का अध्ययन प्रारभ किय था। सन् 1896 के बाद आपने सगीत साहित्य की खोज के लिए भारत के भिन्न भिन्न प्रांतों और शहरों का विशेषकर पश्चिमी भारत का दौरा किया। आप प्रेरणा से ही आपके शिष्यों ने बम्बई मे गधव महाविद्यालय मडल की स्थापना की सगीत के शास्त्रोक्त पक्ष के साथ साथ आपने भक्ति सगीत को आधार बनाक सगीत की सेवा की। आपने कई ग्रथों की भी रचना की। पलुस्कर जी की स्वर लिपि एव तालिलिपि पद्धति भातखडे जी के स्वर ताल पद्धति स भिन्न है। आपक देहावसान 21 8 1931 को मिरज मे हुआ। पलुस्कर जी द्वारा प्रतिपादित ताल लिपि को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है।

मात्रा —

ताल में लगने वाले समय की इकाई अर्थात मात्राओं को अकों द्वारा लिखि रूप मे स्पष्ट किया। एक ही लय मे जितनी मात्राए कम होगी उतना उस ता का समयकाल कम होगा तथा मात्राए अधिक होने पर समयकाल भी अधिक लम्ब होगा।

विभाग —

पलुस्कर तालपद्धति म ताल के विभागो को दर्शाने के लिए भातखडे तालपद्धति

मात्र बीच में खड़ी लकीर नहीं दी जाति। जहां जहां ताल में विभाग होते है वहां हा एक अक्षर कालका स्थान रिक्त छोड़ा जाता है। तालखंड या विभाग, विभागों ो दर्शाये गये चिन्हों द्वारा ही अलग अलग समझे जाते है।

र — दादरा ताल —

धा धी ना   धा ती ना
1   +

ताली या भरी—

अनुस्वर तालपद्धति मे विभागों के ताली स्थान को जिस मात्रा पर ताली गती हो उसी क्रम के मात्रा के अंक द्वारा ताली स्पष्ट की जाती है। इस अंक को नीचे लिखा जाता है।

ण —झपताल—

धी ना   धी धी ना   तीना   धी धी ना
1   3   +   8

खाली —

ताल क जिस विभागा मे नि शब्द क्रिया को लिखित रूप मे दर्शाना हो वहां उस विभाग को पहली मात्रा क नीचे ' + ' (धन) चि ह प्रयोग में लाया जाता है।

रण—दादरा— धा धी ना   धा ती ना
1   +

सम—

ताल का प्रारंभ स्थान सम होती है अत उस स्थान को पहली ताली मान कर "1" अ क द्वारा ही स्पष्ट किया जाता है।

चमत्कारी —

एक मात्राकाल मे एक पाटाक्षर की नीचे आड़ी लकीर से धा दो पाटाक्षर हो तो आधी (1/2) मात्रा चिन्ह के आधार पर धाग शून्य चिन्ह से, 3 पाटाक्षर होने पर प्रत्येक पाटाक्षर के नीचे ता ति ट 1/3 मात्रा चिन्ह के अनुसार, 4 पाटाक्षर होने पर 1/4 के चिन्ह ‿ द्वारा धा गे ति ट इस प्रकार, 6 पाटवर्ण हो तो 1/6 मात्रा चिन्ह के अनुसार प्रत्येक पाटाक्षर के नीचे त कि ट ना किट चिन्ह के अनुसार तथा आठ पाटवर्ण होने पर 1/8 मात्रा के चिन्ह के अनुसार ति र कि र कि ट त क दर्शाया जाता है।

विश्रांति —

विश्रांति क लिए s चि ह प्रयोग म लाते हैं। एक मात्रा का दम हो तो s, आधीमात्रा का दम हो तो S चार मात्रा के लिए S दो मात्रा के लिए S

वर्तमान तालो का विकास एव इतिहास

काल या समय परिवतनशील होता है। यह प्रकृति का नियम है। दिन के 24 घण्टों म ही देखिये दिन का समय उजाला लिये तो रात का समय अधेरा लिय होता है। वष में ग्रीष्म शीत एव वषा काल होना है। महीने की 15 रात्री उजेली की तो 15 रात्रो अधरे की होती है। अर्थात प्रकृति का नियम ही है कि कोई भी समय समान नहीं होता। भूतल का प्राणि मात्र प्रकृति के नियमों में बंधा हुआ होता है। मनुष्य प्राणि सारे प्राणियों में सबसे अधिक बुद्धिमान होता है एव उसी के बल पर वह समय को अपनी सुविधा के अनुसार परिवतन शील बनाने का प्रयास प्राचीन काल से ही करता चला आ रहा है। अपनी ज्ञान वृद्धि के साथ उसने प्रकृति—प्रदत्त अनेक तत्वो का अपनी सुविधानुसार प्रयोग करना प्रारम्भ किया। प्रकृति दत्त तत्वो द्वारा ही उसने लय धारणा, स्वर धारणा सीखी एव इसे सगीत के रूप में विकसित किया। समय या कालका सगीत के अनुसार मापन प्रारम्भ किया तथा काल मापन की इकाई को (सगीत के सन्दभ में) मात्रा नाम दिया। कुछ सीमित मात्राओं के समूह—स्वरूप को ताल नाम दिया जिसके आधार पर गायन, वादन नृत्य का परिमाण निश्चित किया जाता था। भरत ने अपने ग्रन्थ "नाटयशास्त्र में 5 मार्गी तालों का विवेचन किया है। नाटयशास्त्र ग्रन्थ का रचना काल तीसरी सदी सवमान्य है।

काल या समय परिवतन शील होता है उसी स दभ मे सगीत का काल भी अछूता नहीं रह सकता। परिवतन के कारण कुछ भी क्यो न रहे हों मनुष्य के व्यवहार की अनुकूलता सबसे बडा कारण होता है। इन्हीं कारणों के आधार पर प्राचीन मार्गी तालो की व्यवहारिकता की प्रतिकूलता के कारण 7वीं 8वीं सदी से ही देशी तालो का विकास प्रारम्भ हुआ तथा 13वीं सदी में शारगदेव ने अपने ग्र थ सगीत रत्नाकर मे मार्गी तालों के उल्लेख के साथ साथ देशी तालों का विस्तत विवेचन किया। 'सगीत रत्नाकर' को मध्यकाल का सबसे प्रमाणिक एव प्रसिद्ध ग्रन्थ मान्य किया गया है।

"मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना, तुण्डे तुण्डे च सरस्वती

इस कहावत के अनुसार लोक रुचि की भिन्नता वह आधार है जो समय और परिस्थितियो के अनुसार किसी भी क्षेत्र में परिवतन लाती है। प्राचीन काल में सगीत मोक्ष का साधन माना जाता था। धीरे धीरे उसका प्रयोग उत्सव—कार्यों में होने लगा। उसके पश्चात् देशी सगीत के रूप मे वह विकसित होने लगा। मध्यकाल के प्रारम्भ से ही देश की बिगडती परिस्थिति के कारण सगीत को मन्दिरों मठों आदि मे आश्रय मिलने लगा।

अति प्राचीन काल का ताल केवल एक निश्चित गति का चित्रण मात्र था। क्रमशः ताल वाद्यों की विविधता तथा सम विषम ताल प्रकारों का विकास मानव रुचि का परिचायक है। इसी लोकरुचि के कारण तालों को वर्तमान स्वरूप प्राप्त हुआ है।

मध्यकाल से ही संगीत लोकरुचि के अनुसार तथा परिस्थिति के अनुसार दो अलग अलग धाराओं में विकसित होता रहा। एक मन्दिरों या मठों के आश्रय के माध्यम से तथा दूसरा राजाश्रय के माध्यम से। हम देखते हैं कि मध्यकाल में जितने भी प्रबन्धकार या संगीतकार हुए वे मन्दिर मठों की संत परम्परा से अथवा राजे महाराजाओं के आश्रय से सम्बन्धित रहे हैं। मन्दिरों, मठों में जिस प्रकार का संगीत रहा उसके अनुसार वहाँ छोटे तालों का अर्थात् कम मात्रिक तालों का विकास हुआ तथा राजाश्रय में पनपे संगीत में राजा महाराजाओं के रुचि के अनुसार गीत प्रकारों में प्रयुक्त तालों का अधिक विकास हुआ। मन्दिरों में जिन गीत शैलियों का (भक्ति रस पूर्ण) विकास हुआ उसके लिये तदनुरूप तालों का निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई। समान मात्रिक ताल होते हुए भी गीत के वजन या छन्द के अनुसार समान मात्रिक विभिन्न तालों का निर्माण किया गया। इसी प्रकार राजाश्रय में पनपने वाले संगीत में भी समान मात्रिक तालों का (गीतों के स्वरूप तथा उनकी उपयोगिता की दृष्टि से) निर्माण हुआ। जैसे 8 मात्रिक तालों में कहरवा, धुमाली, अद्धा, जत आदि समान मात्रिक अलग अलग तालों का निर्माण हुआ उसी प्रकार ध्रुवपद गायन के लिये खुले पाट में बजने वाले 12 मात्रा के चौताल तालका तथा समान 12 मात्रिक बंद बोलों के एक ताल का निर्माण ख्याल गायकी के लिये किया गया। यह लोक रुचि के कारण ही हुआ। ध्रुवपद के चौताल ताल का स्थान ख्याल गायन में लोक रुचि के आधार पर ही एकताल ने ले लिया। मात्रा खंड, ताल, काल, क्रिया आदि समान होते हुए भी चौताल के स्थान पर एकताल की लोकरुचि संगीत में परिवर्तन का कारण बनी।

प्राचीन काल तथा पूर्व मध्यकाल तक अवनद्ध वाद्य का प्रयोग संगीत में रंजकता एवं रस के निष्पत्ति के लिए किया जाता था। ताल धारणा ताल वाद्य से (जो घन वाद्य के अन्तर्गत आता था) अथवा गायक या वादक के साथ ताल क्रिया धारक व्यक्ति (तालक) द्वारा की जाती थी। कभी कभी तो स्वयं गायक ही अपने हाथों से ताल क्रिया सम्पन्न करता था। 14वीं शताब्दी से मार्गी एवं देशी तालों का भेद धीरे धीरे कम होता चला गया। मुस्लिमों के आधिपत्य के कारण भारतीय संगीत का पतन प्रारम्भ हो गया था। संगीत पर मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव पड़ा। इसी काल में भारतीय संगीत में लय धारणा के लिये घन वाद्यों का स्थान अवनद्ध वाद्यों ने लेना प्रारम्भ कर दिया होगा। इसका स्पष्ट कारण तथा समय ज्ञात नहीं हो पाया है। अवनद्ध वाद्यों के ऊपर ताल के ठेकों का प्रारम्भ 13वीं

14वीं सदी में ही हो गया था। 13वीं सदी में अल्लाउद्दीन खिलजी के दरबारी कलाकार अमीर खुसरो ने पश्तो, कव्वाली, जत, सवारी, आडाचारताल, झूमरा आदि तालों का तथा उनके ठेकों का आविष्कार किया। इन तालों का नामोल्लेख भी भारतीय संगीत के तत्कालीन या पूर्व के किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता है। ये ताल मुस्लिम तथा पर्शियन गीत प्रकारों के लिये निर्मित किये होंगे। शायद इसी के आधार पर इसके देखा देखी सुधाकलश (मधुकलश) ने 14वीं सदी के पूर्वार्द्ध में से 1 मात्रिक से लेकर 16 मात्रिक तालों का निर्माण कर उनमें से किन्हीं किन्हीं तालों के लिये 'निश्चित पाटवर्णों' के निर्देश दिये है, जिन्हें हम आधुनिक ठेका अथवा बोल कह सकते है।

तालके ठेके तथा उनका वादन प्रचार में आने के कारण तथा इनमें सशब्द क्रिया (ताली) एवं निःशब्द क्रिया (खाली) दर्शक बोलों का विकास होने के कारण गायक या वादक को ताल स्थान को समझने में सुविधा हुई होगी और इसी कारण शायद दूसरी भारत में तालक तथा घन वाद्यों का अस्तित्व शास्त्रीय संगीत में धीरे धीरे कम होकर वर्तमान काल में लुप्त प्राय हो चुका है। सुगम संगीत में घन वाद्यों का प्रयोग निरन्तर वर्तमान काल तक बना रहा है। इसका प्रमुख कारण यह है कि सुगम संगीत एवं लोक संगीत में शास्त्रीय नियमों के बन्धन में छूट होती है तथा यह संगीत लय—प्रधान संगीत होता है।

दक्षिण भारतीय संगीत में तालक का स्थान वर्तमान काल तक सम्पूर्ण बना हुआ है तथा शास्त्रीय संगीत में अभी भी घन वाद्यों की संगत प्रारंभ की जाती है।

15वीं एवं 16वीं सदी में मुस्लिम प्रभाव के फलस्वरूप, मुगल बादशाह तथा राजे रजवाड़ों के मनोरंजन के लिये संगीतकारों को राजाश्रय प्राप्त हुआ वह श्रृंगारिक गीतों के प्रचलन के लिये प्रोत्साहित किया गया। इस कारण ठुमरी, टप्पा ख्याल आदि के लिये बड़े तालों एवं गजल दादरा, सादरा, कव्वाली आदि के लिये छोटे तालों का निर्माण होकर उन तालों का चलन अधिक प्रमाण में प्रारम्भ हुआ। शाही युग एवं बाबर युग में श्रृंगारिक गीतों के प्रचलन के कारण दादरा, केहरवा, रूपक, पश्तो, दीपचंदी, सवारी आदि तालों का प्रचलन अधिक होकर उनका विकास होता गया।

जौनपुर के बादशाह सुल्तान हुसैन शर्की ने ख्याल गायकी जो पूर्व से कम प्रमाण में थी उसे अधिक प्रमाण में प्रचलित किया। शर्की ने ख्याल गायन को समाज में अन्य गीत शैलियों से महत्वपूर्ण बनाने में श्रेयस्कर कार्य किया। ख्याल गायन के लिये तिलवाड़ा, आडाचारताल, एकताल, झूमरा, तीनताल, झपताल आदि ताल अधिक उपयुक्त रहे तथा इनका प्रचलन समाज में प्रारम्भ हो गया ख्याल गायकी के प्रचलन के अधिकता के साथ साथ इन तालों का भी क्रमशः प्रचार होता गया।

मुगलकाल के पूर्वार्ध में दक्षिण भारतीय संगीत अपनी प्राचीन परंपरा के आधार पर कुछ फेरबदल के साथ दन्प्यिमान होकर विकसित होता रहा जबकि उत्तर भारत म भारतीय संगीत अपने प्राचीन परंपरा से हटकर मिश्रित स्वरूप म अपनी आभा बिकीर्ण कर रहा था। उत्तरी भारत मे तालो के विकास के दृष्टि से बहा एक ओर शास्त्रीय संगीत म बड़े तालो का प्रचलन प्रारंभ हो चुका था वही सुगम संगीत–भक्ति संगीत में छोटे तालो का प्रचलन प्रारंभ हो गया था।

वहा एक ओर ख्याल, ठुमरी, टप्पा आदि गायकी एव उसके उपयुक्त तालो का प्रचार एव विकास हो रहा था वही प्राचीन गीत प्रकारों पर आधारित ध्रुवपद गीत शैली का निर्माण, प्रचलन एव प्रसार तत्कालीन ग्वालियर शासक राजा मानसिंह तोमर ने किया। ध्रुवपद भारत वष का ओजपूर्ण गायन प्रकार है जिसके माध्यम से वीर एव शांत रस प्रधान गायकी का गायन किया जाता है। ऐसा कहा जाता है कि प्राचीन प्रबंध गायन शैली के आधार पर ही जिसका ख्यालादि गायकी के कारण लोप सा हो गया था ध्रुवपद गायन प्रचार म लाया गया। ध्रुवपद के लिए उसके स्वरूपानुसार खुले बोल के ठके चौताल, सूलताल आदि प्रचार म आये। ध्रुवपद गायन मे कई विख्यात गायक उस समय हुए तथा कुछ समय तक ध्रुवपद गायन संगीत म छाया रहा। अकबर और जहांगीर के काल मे श्रृंगार रस प्रधान ध्रुवपदो का प्रचलन भी प्रारंभ हो गया था।

17 वी सदी का काल भारतीय और मुस्लिम दोनों गीत प्रकारों को तथा संगीत प्रवत्तियो को मिलाने का काल रहा। जिसका एक उदाहरण प दामोदर कृत ग्रन्थ 'संगीत दपण' है। शाहजहा संगीत प्रेमी शासक था। उसके काल में (1628 1658 ई) श्रृंगार युक्त ख्याल टप्पा ठुमरी, गजल के साथ साथ ध्रुवपद गायन शैली का भी अधिक प्रचलन रहा तथा खुले और बन्द बोलो के तालो का विकास हुआ।

औरंगजेब के काल (1658 ई स 1707 ई) में भारतीय शास्त्रीय संगीत का पतन हुआ। राजदरबारों मे प्रचलित संगीत को ही उसने भारतीय संगीत समझ लिया और इसी कारण उसने संगीत पर प्रतिबन्ध लगा दिया। उसके मत से संगीत मुस्लिम धर्म के विरुद्ध था। औरंगजेब के दमन के कारण यद्यपि शाही महलो स तथा भक्त रूप से संगीत का प्रचलन लगभग बन्द रहा तथापि इसी काल मे अहोबल कृत 'संगीत पारिजात' लोचनकृत–'रागतरंगिणी', भावभट्ट कृत 'अनूपविलास' आदि संगीत ग्रन्थों की रचनाओ द्वारा संगीत का विकास होता रहा।

संगीत पर प्रतिबन्ध के कारण संगीत, भक्ति संगीत तथा काव्य संगीत क रूप मे विकसित होने लगा और छोटे छोटे तालो का सुगम संगीत के माध्यम से विकास हुआ। दूसरी तरफ श्रृंगार युक्त गायन शैली हल्की जाति के लोगो म प्रचारित होकर वहा उन गीतों के अनुकूल तालो का विकास होता रहा। औरंगजेब के समय

से उसके मृत्यु उपरात भी संगीत स्थानीय लोगो की रुचि अनुसार पनपने लगा। बंगाल, गुजरात, उ. प्र., महाराष्ट्र पंजाब, मध्यप्रांत मे ग्वालियर, आदि संगीत के केन्द्र के रूप में उभर कर सामने आये।

मुगलवंश के अंतिम बादशाह मोहम्मद शाह रंगीले (1719-1740) के शासन काल में भारतीय संगीत पुनः उभर कर सामने आया। इनके शासन काल में शोरी मियां ने मुरकियों झटकों, खटकों वाली टप्पा शैली के गायन को सामने लाया। टप्पा अंग से गाये जाने वाले गीत प्रकारों को टप्पाख्याल, टप्पा-ठुमरी, टप्पा होरी आदि नाम दिए गये। इन गीत प्रकारों के कारण दीपचंदी, धमार सवारी, पंजाबी तथा टप्पे के ठेको का विकास भी इसी समय हुआ। भारतीय संगीत में फारसी संगीत का मिश्रण होकर नये नये रागो तथा गीतों की रचना हुई। ठुमरी गीत का प्रचलन भी अधिक हुआ।

ब्रिटिश काल मे अंग्रेजों ने भारतीय संगीत के प्रति कोई सहानुभूति नहीं बताई। अंग्रेजी शासन के अंतर्गत छोटे छोटे राजे महाराजा थे जिनके राज्यों में थोड़ा बहुत आश्रय संगीत को मिला। संगीत एवं ताल भिन्न भिन्न प्रांतो में अलग अलग प्रकार से गाये बजाये जाने लगे। 19 वी शताब्दी के अंत में बंगाल में एक अलग ही संगीत तथा तालो का प्रचलन हुआ। 19 वी सदी में ही कुछ विदेशी संगीतकारों द्वारा भारतीय संगीत एवं तालो का सही मूल्यांकन किया गया। पूर्व मे ये लोग भारतीय संगीत को तुच्छ समझते थे। इस काल में समाज मे भी संगीत को उच्च स्थान प्राप्त नहीं था। 19 वी सदी तक भारत भर में अलग अलग प्रांतों में समान मात्राओं के कई ताल एवं उसके ठेके प्रचार में आये तथा उसी प्रकार अलग अलग तालपद्धतियां भी प्रचार मे आई। प्राचीन तालपद्धति पर आधारित ताल पद्धति दक्षिण भारत में सप्त सूलादि तालों के रूप में प्रचलित हुई। उत्तर भारत में भृगुनाथ वर्मा, ओंकारनाथ ठाकुर, रवि प्रकाश ठाकुर, मल्ल आदि कई ताल पद्धतियां प्रचार में आई तथा इनमें कई नये नये तालों का प्रादुर्भाव हुआ। उत्तर भारत के ताल लिपि पद्धतियों में पं. भातखंडे एवं पं. पलुस्कर तालिलिपि पद्धतियां प्रमुख है। वर्तमान संगीत में प्रयुक्त तालो को गीतों के अनुसार पांच श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—

(1) धृपद अंग के ताल — चौताल, सूलताल धमार तीव्रा आदि।
(2) ख्याल अंग के ताल — तिलवाड़ा, एकताल, झूमरा झपताल, आदि।
(3) टप्पा अंग के ताल — पंजाबी, मध्यमान (व त्रिताल), अद्धताल आदि।
(4) ठुमरी अंग के ताल — दीपचंदी अद्धा, ठुमरी अंग का झप आदि।
(5) सुगम एवं लोक संगीत अंग के ताल — केहरवा दादरा रूपक, घुमाली, पश्तो, खेमटा आदि।

इस प्रकार विभाजन किया जा सकता है परंतु गीतों के अंगो के अनुसार भी इनमें अंतर आता है। जैसे दीपचंदी, अद्धातिताल, पंजाबी, जत आदि

तालो का टप्पा एव ठुमरी दोनो प्रकार के गीत शलिया के सगत म उपयोग किया जाता है। कुछ कुछ तालो की रचना यद्यपि विशेष गीत प्रकारो के लिए की गई होगी तथापि किसी गीत शली के साथ सगत के लिए गीत के अ ग के अनुसार ताल एव ठेका वादन की स्वतन्त्रता सगतकार को होती है।

शास्त्रीय तालों एव उनके ठेको की यह एक और विशेषता है कि इनक प्रयोग लय के आधार पर पथक पृथक होते हैं। ख्यालगायन के सगत का 16 मात्रिक तिल वाडा विलबित लय का ताल है तो ख्याल गायन की मध्यलय के लिए 16 मात्रिक तीनताल का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार झपताल, सूलताल, रूपक, कैहरवा, तिताल आदि मध्य एव द्रुतलय में। चौताल, सूलताल, एकताल, धमार झूमरा, तिलवाडा, पजाबी आदि विलबित एव मध्यलय म ही अच्छे लगते हैं। कुछ ताल ऐस भी है जो केवल विलबित लय मे या मध्य लय म या द्रुतलय मे अधिक उपयुक्त रहते है। कुछ ताल ऐसे भी है जिनका तीनो लयो म प्रयोग उचित रहता है।

उत्तर भारतीय सगीत का क्षेत्र काफी विस्तत है। सगीत में प्रयुक्त राग व ताल समान होत हुए भी भाषा एव उच्चारण बल का गहरा प्रभाव तालों के ठको पर पडा है। इसलिए एक हो मात्रा के ताल के विभिन्न रूप एव ठेके प्रचलित है'

हम कह सकते है कि काल, स्थान एव परिस्थिति के कारण सगीत में विभिन्न तालो का निर्माण, प्रचलन एव विकास होता रहा है। वतमान काल मे तालवादन का इतना विकास हो चुका है कि अवनद्ध वाद्यो ने एकाकी या स्वतन्त्र वादन का प्रभात सा हो गया है। कुछ कुछ विद्वानों ने तबला तरग वादन का प्रयास किया है तथा वह जारी है। भविष्य म तबला तरग प्रचार मे आकर लोकप्रिय बन जाये तो अतिशयोक्ति नही होगी, क्योंकि उत्तर मध्यकाल तक तबले के एकाकी (स्वतन्त्र) वादन का विचार भी किसी कलाकार के मन मे न आया होगा।

किसी भी कला के विकास का माग अवरुद्ध नही होता। अत सगीत मे भी तालो के वादन के विभिन्न प्रयोग होगे और उसका विकास निरतर जारी रहेगा।

सुगम संगीत के तालो का विकास एवं इतिहास

भारतीय संगीत का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। अति प्राचीन काल मे संगीत को मोक्ष प्राप्ती के साधन के रूप मे मान्यता प्राप्त थी। संगीत में लय वाद्यो का प्रयोग होता था तथापि लय वाद्यो का अन्य व्यवहारों मे भी प्रयोग किया जाता था। रामायण महाभारत काल मे संगीत मोक्ष प्राप्ती के साथ साथ मनोरंजन के लिये भी प्रयुक्त होता था ऐसा रामायण, महाभारत ग्रन्थों के उल्लेख से स्पष्ट होता है। भेरी, दुंदुभी, मृदंग, घट डिंडिम, वीणा मुरज आडम्बर आदि वाद्यो का प्रयोग संगीत के साथ किया जाता था ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। महाबली रावण संगीत का प्रकांड विद्वान था ऐसा कहा जाता है। उसी प्रकार महाभारत काल मे श्री कृष्ण बंशी वादन मे निष्णात थे तो अर्जुन संगीत, वीणा तथा मृदंग वादन में निष्णात था।

संगीत मे सर्वप्रथम प्राप्त ग्रंथ भरत का 'नाट्यशास्त्र' है। इस ग्रन्थ के 28 से 33 वे अध्यायों मे संगीत शास्त्र का विस्तृत विवेचन किया है। भरत ने वाद्याध्याय में (33/20 23) उत्सव, सोमायात्रा, मंगल अवसर, विवाह, पुत्र उत्सव और युद्ध के साथ साथ घरेलू त्योहारों मे किस प्रकार के ताल वाद्यो का प्रयोग करना चाहिये यह बताया है। इससे सिद्ध होता है कि भरत काल मे संगीत केवल मोक्ष प्राप्ती का साधन मात्र नही था तथापि संगीत कुछ विशिष्ट लोगों के लिये सीमित था। वे ही गायन वादन कर सकते थे।

आठवीं सदी तक संगीत का प्रचार आम लोगों में होने लगा था एवं शास्त्रीय संगीत के अलावा देसी संगीत जो लोक रूचि के अनुसार था अधिक प्रचलित होने लगा था। 8 वीं सदी में लिखे गये मतंग के "बृहद्देशी" ग्रन्थ मे आम लोगो के रूचि के अनुसार जो संगीत प्रचार में आया वह देशी संगीत ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। इस ग्रंथ मे देशी संगीत के साथ प्रयुक्त तालों का यद्यपि उल्लेख नहीं है तथापि यह समझा जा सकता है कि मार्गी तालो के अतिरिक्त अन्य तालो का वादन देशी संगीत के साथ में होता रहा होगा जिसका विवेचन आगे चाकर शारंगदेव ने अपने बृहत ग्रंथ 'संगीत रत्नाकर' में किया है।

ग्यारहवी सदी के प्रारम्भ से ही मुस्लिमों के आक्रमणों के कारण भारतवर्ष में स्थिति अशांत रही तथा संगीत का क्षेत्र शास्त्रीय रूप तक सीमित न रहकर वह समाज के सभी वर्गों तक फलकर, देशी संगीत के रूप मे विकसित होकर, लोक रूचि के अनुसार मन्दिरों, मठों, समाजों, जातियो मे फल गया। कुछ कुछ राजाओं

के पास शास्त्रीय संगीत के मुख्य कलाकार थे किन्तु राजाओं की राजनैतिक स्थिति अशान्त होने के कारण संगीतज्ञों का झुकाव भी देशी संगीत की ओर होने लगा।

13वीं सदी में शारंगदेव ने "संगीत रत्नाकर" ग्रंथ की रचना की। इस ग्रंथ में देशी संगीत की परिभाषा करते हुए उन्होंने लिखा है (1 1/22 3) "भिन्न-भिन्न देशों (प्रान्तों या राज्यों) के लोगों के रूचि के अनुसार मनोरंजन करने वाला गीत, वादन और नृत्य देशी संगीत कहा जाता है।' शारंगदेव आगे लिखते है कि "मार्गी संगीत में जिस प्रकार नियमों का सूक्ष्मता से पालन किया जाता है वैसे देशी संगीत में नहीं होगा। इन नियमों में शिथिलता होने पर भी यदि वह गायन रंजकता उत्पन्न करता है तो वह देशी संगीत होगा।"

देशी संगीत के साथ सुगमता से प्रयोग में लाये जा सके तथा द्रुत, लघु आदि के द्वारा लय धारण कर देशी संगीत को रंजक बना सके वे देशी ताल कहलाते थे। देशी तालों का विस्तृत विवेचन करते हुए 120 देशी ताल शारंगदेव ने बताये है। देशी तालों का आधार गणित था न कि व्यवहारिक। अतः इनमें से कितने ताल व्यवहार में आते थे इसका स्पष्ट उल्लेख न करते हुए केवल इतना लिखा है कि 'देशी ताल अनेक हो सकते हैं किन्तु वे प्रचार में नहीं।" (5/312) इससे स्पष्ट होता है कि जन जन में लोक रूचि के अनुसार गीतों के साथ सुगम तालों का अलग अलग प्रकार से वादन होता होगा।

राजनैतिक महाघातों के कारण तथा मुस्लिम संस्कृति की छाप पड़ने के कारण, तथा प्रकार मुस्लिम बादशाहों के रंगीलेपन के कारण संगीत दो विधाओं में बट गया। एक था शास्त्रोक्त रूप तथा दूसरा था सुगम रूप। शास्त्रोक्त रूप राग, विशेष स्वर, ताल आदि का नियम बद्ध गायन, वादन, व नृत्य था तो सुगम रूप में स्वर एवं तालों के नियमों में कुछ छूट थी जिससे जन जन का मनोरंजन हो सके।

सुगम संगीत ऐसा संगीत होता है जिसमें राग स्वर एवं ताल के नियमों का विशिष्ट बन्धन न हो जो गाने एवं सुनने में सरल हो तथा जिससे अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक परिमाण में मनोरंजन हो सके। सुगम संगीत में गाये जाने वाले गीतों में श्रृंगार रस पूर्ण वीर रस पूर्ण, भक्ति रस पूर्ण, मांगलिक गीत आदि कई प्रकार के गीतों का समावेश होता है जो आम लोगों को आनंदित करके भाव विह्वल कर देता है। लोक संगीत, भक्ति संगीत राष्ट्र गीत, श्रृंगारिक गीत आदि प्रकार के गीत जो रंजकता में और समझने में सुगम हो सुगम संगीत के अन्तर्गत आते है। कुछ गीत ऐसे भी होते है जो पूर्ण शास्त्रोक्त आधार पर प्रस्तुत किये जाते है, तथापि उन गीतों के शब्दोच्चारण स्पष्ट होकर गीतों को लय की विचित्रता के साथ प्रस्तुत किये जाने से समझने व मनोरंजन के लिये सुगम हो जाते है।

सुगम संगीत के कुछ गीत प्रकार

(1) विवाहादि के समय गाये जाने वाले—घोड़ी, बन्ना, मांडव भात, गारी आदि।
(2) खेती जोतते समय – निराई आदि।
(3) बच्चे के जनने के समय—सोहर आदि।
(4) विहार गीत—झूमर आदि।
(5) ऋतु—सावनी, आल्हा चाह चैती, कजरी आदि।
(6) भक्ति गीत —
भजन अभंग, कथा गीत, आदि।
(7) शृंगारिक गीत —
ठुमरी, टप्पा, दादरा खादरा, लावणी आदि।
(8) वीर (रस) प्रधान गीत —
पोवाडा, राष्ट्र गीत आदि।

सुगम संगीत में या लोक संगीत में शास्त्रीय संगीत की अपेक्षा वाद्यों की ओर विशेषकर लय वाद्यों की संगत अधिक होती है। सुगम संगीत में शब्दों के स्पष्ट उच्चारण के साथ साथ लयात्मकता का विशेष महत्व होता है। छोटे छोटे तालों का और उसके छोटे छोटे विभागों का निर्वाह अतिसुंदर प्रतीत होता है। तालों में लय के आधार रूप में विशेषकर दो भागों का (ताली दशक, खाली दगर) निर्वाह सुगम संगीत के तालों की विशेषता है।

कभी कभी तो यह देखने को मिलता है कि सुगम संगीत के साथ लय वाद्यों का प्रयोग करने वाले वादकों को तालशास्त्र का विधिवत ज्ञान तक नहीं होता तथापि वे इतनी सुन्दरता से संगत करते हैं कि लोग उनकी संगत से आश्चर्य चकित हो जाते हैं। उन्हें (ताल वादकों को) यद्यपि शास्त्रोक्त ज्ञान नहीं होता तथापि वे सुगम संगीत के साथ 2 मात्रिक, 3 मात्रिक, 4 मात्रिक या 2 3, 3 4 मात्रिक कालखंडों का निर्वाह इतनी उत्तम लयात्मकता से करते हैं कि कभी कभी अच्छे अच्छे तालशास्त्रज्ञ वादक भी वाह वाह कर उठते हैं। इससे सिद्ध होता हैं कि सुगम संगीत लय प्रधान गायकी हैं।

सुगम संगीत में बजने वाले तालवाद्यों में घन तथा अवनद्ध दोनों वाद्यों का प्रयोग होता हैं। प्रत्येक गीतकी अलग अलग लयात्मकता होती हैं। दो अलग अलग समान मात्रिक खंडों एवं तालों में गाये जाने गीतों में एकही प्रकार के बोलों के निर्वाह एवं वजन में अन्तर होता है। उसी प्रकार विशेष गीत प्रकारों के साथ विशेष लय वाद्य का प्रयोग अपना महत्व रखता है। जैसे आल्हा व फाग में ढोलक, नौटंकी में नक्कारा, तमाशा में ढोलकी आदि।

सुगम संगीत या लोक संगीत में बजने वाले घन वाद्य

झंडिया, घड़ियाल, थाल, ताल, झाज, टिकिर, मजीरा, करताल, रमझोल, मुखचंग घुंगरू चिमटा, तुनतुना आदि।

सुगम संगीत या लोक संगीत में बजने वाले अवनद्ध वाद्य

तबला, मृग ढोलक, ढोलकी, घेरा, डफ, खजरी, मादल, गुमका, नाल, डमरू, दमामा, धौंसा, ढक, नगाड़ा, तासा, ढाक, घट, सम्बल, आदि।

सुगम संगीत में बजने वाले ताल

सुगम संगीत में आने वाले गीत प्रकार एवं उनके साथ प्रयुक्त स लवाद्यों का अध्ययन करने के बाद यह देखना जरूरी हो जाता है कि प्राचीन काल से वर्तमान कालतक इन वाद्यों में बजने वाले तालों का क्या क्रम रहा है। नाट्यशास्त्र के वाद्याध्यायमें उत्सवगीत, मंगलगीत विवाहगीत आदि में अलग अलग प्रकार के त लवाद्यों क वादन का उल्लेख (33/20 23) किया गया है। भरतने गीतों के प्र के सं द में लिखा है कि जो निश्चित ताल, छंद स्वर, आदि में पूर्ण नियम बद्ध होते हैं वे ध्रुवाएं हैं अ य गीत ध्रुवाएं नहीं तथापि ये गीत रजक हो सकते हैं।

हम देखते हैं कि नाट्यशास्त्र में काल के विभाग को ताल कहा है तथा संगीत में समय परिमापक कला या द स ताल का व्यवहार बताया है। पाँच निमेष काल को मात्रा कहा है। मात्राओं के आधार पर एक मात्रिक, द्विमात्रिक, चार मात्रिक, आठमात्रिक कला होती थी। चच्चत्पुट = 8 मात्रा, चाचपुट = 6 मात्रा ये मुख्य चतुरस्त्र और त्र्यस्त्र जाति के दो ताल बताये हैं। चच्चत्पुट के खंड 2, 2, 1 3 इस प्रकार तथा चाचपुट के खंड 2, 1, 1, 2 इस प्रकार बताये हैं। भरत ने खंड और मिश्र तालों का भी उल्लेख किया है। तालों के एक-कल स्वरूपों के वादन म सशब्द और नि शब्द क्रिया के आधार पर उनके प्रकार भी बताये हैं। नाट्य में आधारित तथा पाणिकादि गीतों में अलग प्रकार से एक ही ताल का वादन होता था (31/14 18)। मिश्र जाति के ताल जो 5, 7, 9, 10, 11 मात्रिक होने य प गीत क अ दा स सम्बन्धित बताये हैं। मिश्र तालों का प्रयोग शास्त्रोक्त गायन के सप्त गीतों (ध्रुवा प्रकारों) म नहीं होता था, तथापि इनका उपयोग प्रवृत्त आदि म होता था। (31/45 46)

यद्यपि भरत ने तालों के देशी स्वरूप का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है तथापि मुख्य मार्गी ताल 3 प्रकार क बताकर अ य मिश्रताल मार्गी संगीत (ध्रुवाओं) क अनुपयुक्त बताय है। इनके उपयोग को अस्वीकार नहीं किया है। ताल वाद्य क वादन के अष्ट ग्राम्य बताए है जिसके अनुसार ताल वादन (यहा तालवादन का अर्थ वाद्यों का निर्वाह) अक्षर (लघुगुरु) सम, अ ग सम (गीत के अ ग के अनुसार) तालसम एव सम यतिसम, ग्रहसम, न्यासोप यास सम, पाणिसम, बताया है। अठारह जातियों के अनुसार तान वादन देश, स्थिति, रस व आदि क अनुरूप होना था ऐसा भी उल्लेख किया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भरत काल में भी 2 मात्रिक, 3 मात्रिक, 4 मात्रिक (कला के) तालो का प्रयोग और मिश्र जाति के 5, 7 9, आदि मात्रिक (कला के) तालो का प्रयोग होता था तथा विभिन्न समयो जैसे उत्सव, शोभायात्रा मंगल अवसर, विवाह, पुत्र प्राप्ती आदि में गाये जाने वाले गानो के साथ इन तालो का वादन होता था इस प्रकार इन गीतो को हम सुगम संगीत के अंतर्गत मानकर प्रयोग में आनेवाले तालो को सुगम संगीत के अंतर्गत मान सकते हैं। भरत काल में ताल के ठेके होने का कोई उल्लेख नही है। वर्णोच्चार भेद जोरभार (वजन) भेद, मार्ग के अनुसार पाटाक्षरयुक्त वादन होता था। इसमे स्पष्ट होता है कि भरतकाल में भी शास्त्रोक्त के तथा गीतों मे लयात्मक आधार पर ताल वादन होता था।

भरत काल के बाद शारंगदेव के काल (13वी सदी) तक तालो के मार्गी तथा देशी प्रकार स्पष्ट हो गए तथा 120 देशी तालो का विवरण शारंगदेव ने अपने ग्रंथ 'संगीत रत्नाकर' में दिया है। उसके पूर्व ही मतंग ने देशी गायन वादन का देशो देशी के रुचि व भाग (लक्षण) के अनुसार ऐसा उल्लेख किया है। इससे यह लगता है कि मार्गी ताल वाद्य वादन भी देशों देशों के गीतो के भाग अनुसार होता होगा।

शारंगदेव ने भिन्न भिन्न देशो प्रांतो, राज्यों के लोगों की स्थिति तथा रुचि के अनुसार प्रयुक्त संगीत को देशी संगीत कहा है जो लोगो का मनोरंजन करता हो। इस देशी संगीत के अनुसार बजने वाले ताल देशी ताल कहे जाते थे। 120 देशी तालों में से कोई भी ताल अथवा अन्य ताल भी लोगों के गीत प्रकारोंके अनुसार प्रयुक्त हो सकते थे। विभिन्न प्रांतों के भाषा के वर्णोच्चार के कारण गीतों के निश्चित मात्रिक तालो के आवर्तन के खण्डो और वजन में अंतर संभव था। इसी प्रकार समान मात्रिक अनेक तालो का उल्लेख शायद शारंगदेव ने किया होगा। भाषा भेद वर्णोच्चार भेद गीत का वजन आदि के कारण भिन्न भिन्न प्रांतों मे कई समान मात्रिक भिन्न भिन्न ताल प्रयोग मे आते रहे होंगे। शारंगदेव ने उल्लेख किया है कि उसने भिन्न भिन्न प्रांतो के विद्वानो से संगीत ज्ञान प्राप्त कर तथा विचार विमर्श कर इस 'रत्नाकर' ग्रंथ की रचना की है।

ताल के ठेके का स्वरूप, भाषा के शब्दोच्चार गीतप्रकार छंद प्रकार आदि पर निर्भर रहा होगा और भिन्न भिन्न प्रांतो मे भिन्न भिन्न तालो के भिन्न भिन्न ठेके प्रयोग मे आते रहे होंगे। इसी कारण शायद शारंगदेव ने रत्नाकर मे तालो के ठेकों का उल्लेख नही किया है।

ताल वादन के सम्बन्ध मे प्राचीन ग्रंथों में तालों के ठेके नही है और समान मात्रिक अलग अलग लघु गुरु आदि पर आधारित अलग अलग खण्डो वाले ताल बताये गये हैं। कई ग्रंथो में एक ही ताल के अलग अलग ठेके प्राप्त होते है इससे यह सिद्ध होता है कि कलावंतो ने छंद के आधार पर बोल के उच्चारण के अनुसार ताल ठेको का निर्माण किया होगा और बाद में उस ठेके को मान्यता प्राप्त

होकर वह परम्परा मे आ गया होगा। हम देखते हैं कि सुगम संगीत के साथ साथ 2 2, 3 3, 4 4, अथवा इनके मिश्रण से 2 3, 2-3/3 4, 3 4 आदि मात्रिक तालो का प्रयोग ही अधिक देखने को मिलता हैं। सुगम संगीत में बजने वाले ताल 16 मात्रिक तालो से अधिक लम्बे नहीं होते है। शारंगदेव ने गीतों के रागाग भाषांग, क्रियांग और उपांग प्रकार के देशी गीतों के सन्दर्भ मे कहा है कि "भाषा, उच्चारण, मनुष्य के क्रियाकलाप तथा प्रयुक्त रागों के आधार पर बने देशी गीतों में शास्त्रोक्त नियमों में शिथिलता लाकर गीतो को मनोरंजक बनाया जाता है"। इसी प्रकार देशी ताल भी इन्हीं देशों के गीतों के साथ बजते थे नियमों के बंधन से शिथिल थे। शारंगदेव ने इसी संगीत (जिसे हम सुगम संगीत कह सकते है) मे कम संख्यावाले तथा छोटे छोटे खंड वाले तालो मे आवश्यकतानुसार इत्यादि प्रयोग करके कम मात्रिक तालो को भी स्पष्ट किया है।

शारंगदेव के पूर्व के कुछ आचार्यों ने (सोमेश्वर, पार्श्वदेव, अभिनवगुप्त आदि) भी देशी तालो का उल्लेख किया है। शारंगदेव ने देशी गायन प्रकारो में अक्षर संख्या काल के अनुसार, मात्रा संख्या तथा यति के अनुसार खण्ड बनाकर तालो का वादन बताया है। देशी संगीत (सुगम संगीत) के लिए उपयुक्त ऐसे कुछ ताल जो सरल थे —

1	(1) आदिताल	।— 1 मात्रा	एकमात्रिक आघात से लय धारणा के लिए एक मात्रिक खंड का ताल।
2	(2) द्वितीयक	0 0 ।— दो मात्रा	दो मात्रिक आघात से लय धारणा के लिए दो मात्रिक खंड का ताल।
3	(7) दर्पण	0 0 ऽ— तीनमात्रा	तीन मात्रिक आघात से लय धारणा के लिए तीन मात्रिक खंड का ताल,
4	(57) चंद्रीमण	। । ऽ— चारमात्रा	चार मात्रिक आघात से लय धारणा के लिए चार मात्रिक, खण्ड का ताल
5	(58) ढेंकी	ऽ । ऽ— 5 मात्रा	पाच मात्रिक आघात से लय धारणा के लिए पाच मात्रिक खंड का ताल।

इस प्रकार 1 1, 2 2, 3 3, 4 4, 5 5 इस प्रकार से छोटे छोटे खण्डों के अनुसार छोटे छोटे तालों का प्रयोग देशी गायन के लिए सुगमता से संभव था।

समान मात्रावाले परन्तु अलग अलग खंड वाले तालों को भी शारंगदेव ने बताया है जिनका उपयोग देशों देशों के अलग अलग समान मात्रा के गीत प्रकारो के उच्चारण बल एवं खण्डो के अनुसार इन तालो का वादन सुलभ था।
जैसे—

(1) 6 मात्रिक ताल —
रति—। । ऽ ऽ, कन्द 0 0 । ऽ ऽ, प्रीति ऽ ऽ । । आदि।

होने पर भी उनमें गीतो के वजन, उच्चारण तथा भाषा के भेद के कारण अंग एवं ठेके में अन्तर हो जाता है अर्थात गीतों से अधिक से अधिक रंजकत्व प्राप्त करने के लिये तालका अलग अलग प्रकार से वादन होता है। कुछ प्रचलित ताल इस प्रकार है :—

(1) —6 मात्रिक ताल — दादरा, खेमटा, नकटा, गरबो।
(2) —7 मात्रिक ताल — रूपक, पश्तो तीव्रा।
(3) —8 मात्रिक ताल — केहरवा, घुमाली अद्धा, धत, कव्वाली।
(4) —10 मात्रिक ताल — झपताल झप, सूलताल, सूल फाक्ता या सूलफाक्ता।
(5) —12 मात्रिक ताल — एकताल, चौताल।
(6) —14 मात्रिक ताल — धमार, दीपचन्दी, चाचर, झूमरा आडाचारताल फरोदस्त।
(6) —16 मात्रिक ताल — त्रिताल तिलवाडा पंजाबी अद्धी सवारी, बड़ी दीपचन्दी।

कुछ लोग केहरवा ताल को चार मात्रिक बताते है। अतः चार मात्रिक केहरवा समान अन्य ताल भी मान्य करते है। 6 मात्रिक तालों का वादन दादरा, सादरा, भजन लोकगीत आदि गीत प्रकारों के साथ अलग अलग बोल एवं वजन से किया जाता है। 8 मात्रिक तालो मे केहरवा कई गीत प्रकारो के साथ घुमाली अभंग या भजन के साथ कव्वाली ठेका कव्वाली के साथ, अद्धा लावणी आदि के साथ बजाया जाता है। कई बार एक ही ताल के ठेके के बोलो का बदल कर बजाया जाता है जिससे सुगम संगीत की रंजकता बढ़ती है। सुगम संगीत मे प्रयुक्त तालों के सम्बन्ध में निम्न तथ्य सामने आते हैं।

(1) 16 मात्रा से अधिक दीर्घ अथवा चार मात्रा से छोटे ठेकों का आवर्तन सुगम संगीत में मनोरंजक नहीं होता।
(2) 8 मात्रिक लम्बाई तक के ताल सुगम संगीत में अधिक प्रचलित है।
(3) विषम मात्रिक की अपेक्षा सममात्रिक ताल तथा तालखंडो के ठेके अधिक लोकाभिमुख होते हैं।
(4) विषम मात्रिक खंड वाले तालो का विशेष रंजकत्व होता है।
(5) दीर्घ मात्रिक तालों को अद्धा बनाकर वादन की प्रथा है जिससे पूर्ण दीर्घ मात्रिक की अपेक्षा रंजकत्व बढ़ता है।
(6) ताल के ठेके का भिन्न भिन्न प्रकारो से वादन होता है।
(7) ठेके के बोलो को दुगुनी चौगुनी गति मे वादन कर तिहाई लेकर सम पर आने से रंजकत्व बढता है।
(8) जिस ठेके का स्वरूप साहित्य से एक समान होता है वही व्यवहार में अधिक आता है।

(9) ताल एक ही होने पर गीत प्रकारों के अनुसार ठेके अलग अलग बजते है। इन ठेको का वजन गीत के अर्थ के अनुसार होने से वे लोकप्रिय तथा रजक होते है।

(10) सुगम संगीत के साथ बजने वाले तालो का, दो विभाग बनाकर (ताली खाली) वादन अधिक रंजक होता है।

(11) सुगम संगीत मे बजने वाले ताल के बोलो पर जोर संगीत के उच्चारण के अनुसार होता है।

(12) कई तालो म खाली नहीं होती तथापि सुगम संगीत में उसके ठके को दो विभागों में विभाजित कर अथवा एक बार ताली दशक, बोलो से तथा दूसरी बार खाली दशक बोलो से वादन किया जाता है।

सुगम संगीत में ठेके का वादन गीत प्रकारों के अनुसार नये तुले बंदिश में होने से ही रंजकत्व प्राप्त होता है (इस आठ मात्रा के ठेके का भजन, कीर्तन, गीत, लोकगीत, लावणी, नाट्यगीत, अभंग, आदि प्रकारों के साथ वादन होने के कारण (एक ही) ताल के विभिन्न रूप या ठेके प्रकार में आये)

नाट्यशास्त्र और संगीत-रत्नाकर मे वर्णित अवनद्ध वाद्यो का विस्तृत परिचय

भारतीय संगीत एवं अवनद्ध वाद्यो का इतिहास प्रागैतिहासिक काल से प्रारम्भ होता है। मानव को सर्वप्रथम (स्वर नालकी अपेक्षा) लय का ही ज्ञान हुआ था। प्रागैतिहासिक एवं वैदिक काल से ही चर्माच्छादित तालवाद्यो का उल्लेख हमें प्राप्त होता है किन्तु उन वाद्यो की बनावट तथा उनके वादन सबंधी विस्तृत जानकारी प्राप्त नही है। शास्त्रीय संगीत में प्रयुक्त सबसे प्रथम अवनद्ध वाद्य के रूप में मृदंग का ही उल्लेख मिलता है। भरत मुनि कृत 'नाट्यशास्त्र' यह ग्रंथ भारतीय शास्त्रीय संगीत में ऐतिहासिक दृष्टी से सर्वप्रथम उपलब्ध ग्रंथ है। इस ग्रंथ की रचना के सम्बन्ध में तथा समय के सम्बन्ध में संगीताचार्यों में मतभेद है तथापि प्राप्त जानकारी के आधार पर इस ग्रंथ का रचनाकाल दूसरी तीसरी सदी माना जाता है। इस ग्रन्थ के 33 वे अध्याय (अवनद्धातोद्य विधानाध्याय) में अवनद्ध वाद्यो के उत्पत्ति, बनावट, वादन एवं अन्य आवश्यक परिभाषाओं का विस्तृत विवेचन किया है। भरत ने अपने ग्रंथ नाट्यशास्त्र में जिन वाद्यो का उल्लेख एवं वर्णन किया है वे इस प्रकार है —

पुष्कर मृदंग, मृदंग, पणव, दर्दुर, भूमिदुन्दुभी, दुन्दुभी झल्लरी पटह।

भरत के बाद दूसरा महत्वपूर्ण संगीत ग्रंथ शारंगदेव कृत 'संगीतरत्नाकर' है। इस ग्रन्थ का रचना काल 13 वी सदी माना जाता है। भरत तथा शारंगदेव के बीच के काल में कई आचार्यों ने ग्रन्थों की रचना की किन्तु उन ग्रन्थों में तथा भरत के 'नाट्यशास्त्र' मे उल्लेखित विचारों में विशेष अन्तर नही था। शारंगदेव ने समयानुसार अपने ग्रंथ में मार्गी एवं देशी संगीत तथा तालो का विस्तृत विवेचन किया है तथा निर्भीकता से स्वतन्त्र विचार प्रगट किये है। इन्होंने अपने ग्रन्थ के पांच वे अध्याय में ताल का तथा छठवें अध्याय में वाद्यो का विस्तृत विवेचन किया है। मार्गी संगीत एवं देशी संगीत के लिए उपयुक्त एवं उस काल में प्रयोग होने वाले जिन अवनद्ध वाद्यो वर्णन किया है वे इस प्रकार है। पटह, मद्दल, (मृदंग, मुरज), हुडुक्का, करटा, घट, ढवस, ढक्क, कुडुवा, पणव रुंजा डमरुक, मड्डिडक्का, डक्कुली, सेल्लुका, झल्लरी, भाण, त्रिवली, दुंदुभी, भेरी, निस्साण, तुम्बकी।

नाट्यशास्त्र में एवं संगीत रत्नाकर में वर्णित कुछ वाद्य समान है किन्तु संगीत रत्नाकर मे कुछ अलग वाद्य है जिनका नाट्यशास्त्र में उल्लेख नही है। इसके

यह प्रमाणित होता है कि प्रारम्भिक काल में संगीत अधिक विकसित हो चुका था।

(1) पुष्कर —

नाट्यशास्त्र में भरत ने पुष्कर वाद्य का विस्तृत विवेचन किया है। इस वाद्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भरतमुनी लिखते हैं —

"किसी अनध्याय के दिन जब आकाश में बादल छाये हुए थे तभी स्वाति मुनि जल लाने के लिए एक सरोवर पर गये। जब सरोवर में जल लेने उतरे तो (इन्द्र ने पृथ्वी को एक बड़ा सागर बना डालने के लिए) जोरों से मूसलाधार वृष्टि आरम्भ हुई। तब उस सरोवर में वायु वेग से गिरनेवाली मेघावृष्ट जलबूंदों के द्वारा (सरोवर के) कमल पत्रों पर जोरदार एवं मधुर ध्वनियों का (भिन्न भिन्न) निर्माण होने लगा। तब मुनि ने सहसा इस अपूर्व ध्वनि को सुनते हुए (जो वर्षा की बूंदों से उत्पन्न थी, एक आश्चर्य मानकर) उस पर ध्यानपूर्वक विचार आरम्भ किया। पत्तों पर होने वाली उस सुन्दर और हृदयग्राही ध्वनि के ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ प्रकारों के विभाजन का गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए अपने आश्रम को लौट आये। आश्रम में लौटकर विश्वकर्मा की सहायता से मुनि ने मृदंगों का, और फिर पुष्कर, पणव और दर्दुर वाद्यों का निर्माण कर डाला। फिर देवगणों के दुंदुभी वाद्य को देखते हुए भरत आलिंग्य, आंकिक, ऊर्ध्वक जैसे वाद्यों का निर्माण किया (33/5 से 11) पुष्कर वाद्य का मुनि ने अलग अलग अर्थों में उल्लेख किया है। पुष्कर [illegible] के रूप में पुष्कर का वामपुष्कर एवं दक्षिण पुष्कर कहकर बायें एवं दायें मुख के रूप में एवं मंगल मुरजको भी पुष्कर रूप में उल्लेख किया है। इस कारण वास्तव में पुष्कर वाद्य क्या था यह स्पष्ट नहीं हो पाता है। तथापि 'त्रिपुष्कर' के रूप में भरत ने जिन तीन अवनद्ध वाद्यों का वर्णन किया है उसमें इन तीन मृदंग प्रकारों जो भरत ने बताये हैं—हरीतकी यवाकृति, गोपुच्छाकृति का वर्णन प्राप्त होता है। ये तीन वाद्य आंकिक (हरीत की), ऊर्ध्वक (यवाकृति) तथा आलिंग्य (गोपुच्छाकृति) थे। इन तीन अथवा इनमें से दो वाद्यों का वादन योजना के अनुसार एकसाथ किया जाता था। इन (त्रि) पुष्कर वाद्यों का वर्णन इस प्रकार है —

(अ) आंकिक —

यह वाद्य वर्तमान के मृदंग या पखावज के अनुसार होकर उसे भी लिटाकर बजाया जाता था। यह अधिकतर लकड़ी का बनाया जाता था। भरतकाल में मृदंग मिट्टी के भी बने होते थे। इसकी लम्बाई $3\frac{1}{2}$ वितस्ति होकर यह मध्य में अधिक चौड़ा रहता था। बीच में से खोखला होकर इसके दो मुख होते थे। दोनों मुखों का व्यास 12 अंगुल होता था।

दोनों मुखों पर चमड़े (पुड़ी) मढ़े रहते थे। यह चमड़ा गाय या बैल का दोषरहित, मजबूत चमकदार होता था। पुड़ी के चमड़ों में छेद करके डोरी या वद्धी को इनमें डालकर दोनों पुड़ियों को कसा जाता था। वद्धी को दो के बाद तीसरी

को बीच में से निकाला जाता था। डोरियां संख्या में 10 होती थी। नये आंकिक वाद्य के पुडी (चमडे) पर गाय के घी के साथ तिल को पीसकर उस मसाले का लेपन किया जाता था। आंकिक के दोनों मुखों पर आवश्यकतानुसार अलग अलग स्वर स्थापना की जाती थी। इसके साथ ही उध्वक के ऊपर आंकिक के स्वर स्थापना के आधार पर स्वर स्थापना की जाती थी जिन्हें मार्जना कहते थे।

(ब) उध्वक —

यह वाद्य भी लकड़ी का बना होकर बीच में से खोखला होता था। इसके एक ही मुख होता था। इसको खड़ा रखकर बजाया जाता था। इसकी ऊंचाई 4 बिलात तथा मुख का व्यास 14 अंगुल होता था। वर्तमान वाद्य के अनुसार इसके मुख पर लगे चमडे (पुडी) को डोरी से कस दिया जाता था। पुष्कर वाद्य के स्वर स्थापना में इसकी यह विशेषता थी कि इसे पंचम स्वर में मिलाया जाता था। अन्य बनावट चमड़ा लेपन आदि आंकिक के अनुसार ही होती थी।

(स) आलिंग्य —

यह वाद्य भी लकड़ी का बना होकर बीच में से खोखला होता था। इसके एक ही मुख होकर इसे खड़ा रखकर बजाया जाता था। इसकी ऊंचाई 3 बिलात तथा मुख का व्यास आठ अंगुल का होता था। इसके ऊपर चमड़े की पुडी लगाई जाती थी जिसे (वाद्य के अनुसार) डोरी या वारो से कस दिया जाता था। इस वाद्य को षडज स्वर में मिलाया जाता था। अन्य बनावट चमड़ा डोरी, लकड़ी लेपन आदि आंकिक के समान ही होती थी।

शारंगदेव ने भरत कालीन पुष्कर वाद्य को अव्यवहारिक बताकर इसका वर्णन नहीं किया है। (रत्नाकर 6/1027)

(2) मृदंग —

भरत ने अपने ग्रंथ में (नाट्यशास्त्र में) मृदंग का अलग वर्णन न करके त्रि पुष्कर के रूप में वर्णन किया है। भरत कालीन आंकिक वाद्य (मृदंग) शारंग देव कालीन मृदंग तथा वर्तमान मृदंग या पखावज के समान ही था। अतः भरत कालीन आंकिक के वर्णन को हम मृदंग का वर्णन ही कहेंगे।

शारंगदेव ने अपने ग्रंथ संगीत रत्नाकर के वाद्याध्याय (6 ठा अध्याय) के श्लोक 1026 में मर्दल को ही मृदंग तथा मुरज कहा है।

(3) मर्दल —

'रत्नाकर' में मर्दल का विवेचन (6/1019 से 1029) विस्तृत रूप में किया गया है। इसकी लकड़ी बीज के वृक्ष की होती थी। यह ठीक से पकी तथा निर्दोष होती थी। लम्बाई 21 अंगुल होकर मर्दल का अंग (खोड) बीच में से खोखला होता था। दो मुख होकर मुख पर लकड़ी की मुटाई $\frac{1}{2}$ अंगुल की होती थी। दाहिने मुख का व्यास 13 अंगुल तथा बायें मुख का व्यास 14 अंगुल होता था। —— बीच के भाग का व्यास मुखों की अपेक्षा थोड़ा बड़ा रहता था। दोनों मुखो

पर उनकी व्यास की अपेक्षा 1 अंगुल बड़ी चमड़ी जो पकी तथा निर्दोष होती थी मुखों को ढकने के काम लाई जाती थी। इन चमड़ियों के किनारों पर 1—1 अंगुल की दूरी पर 40 छेद किये जाकर, दोनों चमड़ियों को इन छेदों में से डाले गये बादियों से आपस में कसकर अंग के दोनों मुखों पर बांध दिया जाता था (वर्तमान पखावज के समान)। राख को भात में मिलाकर चिकनी लुग्दी तैयार की जाती थी। इस लुग्दी का 2/3 भाग लेकर उसका पूड़ी के आकार में बाये मुख (चमड़ी) पर बीचों बीच (वर्तमान स्याही के समान) विलेपन किया जाता था तथा शेष 1/3 लुग्दी का विलेपन इसी प्रकार दांये मुख पर किया जाता था।

(4) पणव —

पणव भी भारत का अति प्राचीन अवनद्ध वाद्य है। कुछ ऐसे तथ्य प्राप्त होते है जिससे कि पणव को वैदिक कालीन वाद्य समझा जा सकता है। पणव का वर्णन शारंगदेव के ग्रन्थ संगीत रत्नाकर में नहीं है। महर्षि भरत ने मृदंग के बाद अवनद्ध वाद्यों में पणव को ही महत्वपूर्ण वाद्य बताया है। प्राचीन संस्कृति साहित्य मे पणव का उल्लेख पर्याप्त मात्रा में हुआ है। बाल्मिकी रामायण के सुन्दरकाण्ड (11-43) और युद्ध काण्ड (44 92) उसी प्रकार महाभारत के अरण्यपर्व (132/19) तथा आदीपर्व (7 /16) में प्रणव वाद्य का कई स्थानों पर उल्लेख है। महर्षि भरत ने तो इस वाद्य की रचना स्वाति मुनि द्वारा बताई है। इस प्रकार प्रणव की प्राचीनता मृदंग के समान सिद्ध होती है।

महर्षि भरत ने अपने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र के अध्याय 33 श्लोक 247 249 में पणव की रचना (बनावट) का विवेचन किया है। इसके अनुसार पणव की लम्बाई 16 अंगुल थी। यह लकड़ी से बना होकर बीच में से खोखला रहता था। इसके दो मुख होकर उनका व्यास 5 अंगुल रहता था। खोड के बीच का व्यास 8 अंगुल होता था खोड को पोला करने के बाद मुखों पर काठ की मुटाई 1/2 अंगुल होती थी। खोड बीच में से 4 अंगुल व्यास में पोला रहता था। पणव के दोनों मुखो को बारीक, शुद्ध साफ चमड़ी द्वारा ढक दिया जाता था। इन चमड़ियों मे छेद करके दोनों मुखों की चमड़ियों को सूत की डोरी द्वारा आपस में कसकर बांध दिया जाता था। इन डोरियों का बंधन इस प्रकार किया जाता था कि इससे ऊंचे या नीचे स्वर के अनुसार बजाने के लिये तनाव या ढील मिल सके। महर्षि भरत के अनुसार पणव पर निम्नलिखित वर्ण निकाले जाते थे —क, ख, ग, ट, ण, द था, ह, र, ध, कु, लि, ल ध्र, ण, कि, रि, किण्ण।

पणव में प्रयुक्त होने वाले अन्य बोलों या बोल समूहों के वादन के सम्बन्ध में भरत ने कहा है कि बंधी हुई सुतलियों को बायें हाथ से कसकर या ढीला करके दाहिने हाथ की तर्जनी, अनामिका कनिष्ठा अंगुलियों द्वारा विभिन्न बोलों का तथा बोल समूहों का वादन किया जाता था। सुतली को बायें हाथ के दबाव एवं कसाव के बाद दाहिने हाथ से क, ख, स न तथा ढील देने पर स, घ वर्ण निकलते थे। भरत ने उत्तम पणव वादक के गुण भी बताये है।

(5) हुडुक्का या आवज —

महर्षि भरत द्वारा उल्लेखित पणव वाद्य को देखने पर लगता है कि पणव ही भरत काल के बाद आकार परिवर्तन से आवज या हुडुक्का कहलाया।

जायसी कृत पद्मावत के "सजीवनी भाष्य" में डा वासुदेव शरण अग्रवाल आवज की उत्पत्ति आतोद्य से बताते है। 'नाटयशास्त्र मे आतोद्य का उल्लेख हुआ है। संगीत रत्नाकर म शारंगदेव ने स्पष्ट लिखा है कि हुडुक्का को ही आमकार आवज या स्कंधावज कहते थे। आवज बजाने वाले को आउज तथा हुडुक्का बजाने वाले को हुडुकिये कहते थे। कुछ विद्वान हुडुक्का और आवज को अलग वाद्य मानते है। 'आइने अकबरी म आवज को हुडुक्का का पर्याय माना है। प्राचीन अलग अलग समय के ग्रन्थों में इसका आवाज तथा हुडक्का नाम से उल्लेख मिलता है। इससे यह प्रतीत होता है कि अलग अलग काल में इस वाद्य का अलग अलग नामों से प्रचार रहा होगा। आइने अकबरी म लिखा है कि आवज या हुडुक्का ऐसा दिखता है जैसे दो नक्कारे मुँदे की ओर से आपस मे जोड दिये गये हो। संगीत रत्नाकर' मे इस वाद्य का वर्णन इस प्रकार किया गया है।

हुडुक्का वाद्य की लम्बाई 1 हाथ (लगभग $1\frac{3}{4}$ फुट) तथा अग का व्यास 28 अगुल का था। यह मदल समान लकडी के खोल से बनता था जो बीच मे से कम व्यास का होता था। खोल बीच म से खोखला होता था। दो मख होते थे तथा मुखो पर लकडी की मुटाइ 1 अगुल होती थी। दोनो मुखो का व्यास 7 अगुल होता था तथा मुखो पर मढ जाने वाले चमडे का व्यास 11 अगुल होता था। दोनो मुखो पर उठे हुए चमडी भाग (गजरा) की ऊचाई मुख से लगभग $1\frac{1}{2}$ अगुल उठी रहती थी। यह उठा हुआ भाग (गजरा) बली (बारीक चमडी की पट्टियों) से तयार किया जाता था। इस प्रकार तयार कडे (जो मुखो के चमडो से बधे हो) या गजरे मे 6छेद होते थे। इन में से डोरी या वादी डालकर दोनो मुखो को कसा जाता था। वादको ठीक तरह सतह पर रखने के लिये अग्रभाग मे 3 तथा पिछले भाग म 2 ऐसी 5 शलाकाऐ (लकडी की पट्टिका) होती थी। बाधने की डोरी के मध्यभाग मे (उदर पट्टिका की लम्बाई 3 अगुल बताई है। बत्तीस ततुओ से या डोर से बनी डोरी दोनो मुखो की ऊपरी भाग में इस प्रकार बाधी जाती थी जिससे कि वह दोहरी स्कध पट्टिका बन सके। हुडुक्का के खोल म 1/4 भाग छोडकर 1/4 अगुल मुटाई के छेद दोनो तरफ किये जाते थे। ये छेद नादकी विशेषता क लिये होते थ। स्कध पट्टिका को कध पर धारण कर उदर पट्टिका को बाये हाथ म पकडकर इसका वादन बताया है। पटह के वर्ण ही हुडुक्का के वर्ण बताते है। इसमें मकार और थेंकार वादन अधिक बताया है। दकार वर्ज्य बताया हैं। अहोबल कृत 'संगीत पारिजात में इसका वर्णन थोडा भिन्न हैं। वर्तमान म यह लोक संगीत का वाद्य बनकर रह गया है।

(6) दर्दुर या ददर :—

महर्षि भरत ने दर्दुर को अवनद्ध वाद्यों में अंग वाद्य मानकर इसे पर्याप्त महत्व दिया है। भरत के पूर्ववर्ती आचार्यों ने इस वाद्य की महत्ता स्वीकार नहीं की थी। यह वाद्य घट के अनुसार होता था। घट का व्यास, 16 अंगुल प्रमाण का तथा मुखका व्यास 12 अंगुल प्रमाण बताया है। घट के परत की मुटाई तथा मुख की किनार मोटी बताई है। मुख पर चमड़े की पुड़ी लगाई जाती थी जिसका विस्तार मुख की अपेक्षा बड़ा होता था। चमड़े को सुतली द्वारा बने छेदों से पिरोकर घट से कस दिया जाता था। इसमें विलेपन (स्याही) होने का प्रमाण नहीं मिलता है। चमड़ा अन्य वाद्यों के समान ही नया, दोष रहित, चिकना, कमाया हुआ, स्वच्छ, सफेद, चमकदार बताया है। दर्दुर के द य, ध, क, ह, ल, म, ट, त, थ, न आदि स्पर्शाक्षर इसी प्रकार दप स्येद्धं, द्रें बहुला, मटरिथ, दैंग ने ग आदि का प्रयोग भरत ने बताया है। इन वर्णों को निकालने के लिये दोनों हाथों का प्रयोग होता था। दर्दुर वाद्य पर मुक्त वादन की कथा में रेवलति, त्रिकल, कनेवद्रो गोणों, हुथिण्ण तथा घणण्ण बोल बताये है (33/72)। दाहिने हाथ के प्रहारों से एणण, स्वार प्रघ्राणि तथा बाये हाथ के नख के अग्रभाग के प्रहार से गोमन्त्या बोल बनाये है (31/71) इनका वादन स्वभाव से तथा हाथों को नियंत्रित कर होता था। अधिकतर दाहिने हाथ का उपयोग मुक्त, अर्द्ध मुक्त या बन्द ध्वनियों को निकालने के लिये तथा बायें हाथ का उपयोग दायें हाथ के सहायक के रूप में या संयुक्त वादन के लिये किया जाता था। भरत काल के बाद इसका महत्व कम हो गया तथा बाद के संगीत आचार्यों ने घट के रूप में इसका उल्लेख किया है। 'संगीत रत्नाकर' में उल्लेखित घट चर्म रहित वाद्य है। वर्तमान दक्षिण भारतीय संगीत का घटम वाद्य भी चर्म रहित है।

(7) भूमि दुंदुभी तथा दुंदुभी —

वैदिक साहित्य को विश्व के इतिहास में सबसे प्राचीन माना जाता है। प्राचीन साहित्य में भूमि दुंदुभी एवं दुंदुभी का बड़े प्रमाण में उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद, अथर्ववेद, यजुर्वेद, सामवेद वाजनेय ही संहिता उपनिषद, ऐतरेय, रामायण महाभारत आदि में भूमि दुंदुभी का उल्लेख है। भूमि दुंदुभी के निर्माण के बारे में कहा गया है कि जमीन में बड़ा गड्ढा खोदकर उसके ऊपर गड्ढे के आकार से बड़ा चमड़ा रख दिया जाता था। फिर उस चमड़े को ऊपर से खूटया गाढ़कर उनके सहारा ताना जाता था। तनाव के बाद लकड़ी की डंडियोंसे पीट पीटकर उसे बजाया जाता था। इससे अधिक जानकारी भूमि दुंदुभी के सन्दर्भ में प्राप्त नहीं होती है। चमड़ा बड़ा होने के कारण वह किसी बड़े जानवर का होगा। भूमि दुंदुभी का उपयोग लोगों को एकत्रित करने खतरे का संकेत देने आदि के लिये किया जाता होगा।

दुन्दुभी का उल्लेख भरत कृत 'नाट्यशास्त्र' के 33 वें अध्याय के श्लोक 11 में मिलता है। उनके मतानुसार दुंदुभी देवगणों का वाद्य था इसका विस्तृत वर्णन नाट्यशास्त्र में नहीं है।

शारंगदेव के ग्रंथ संगीत रत्नाकर में दुंदुभी वाद्य को अवनद्ध वाद्यों में रखा गया है (6/12, 13 14)। इस वाद्यका विस्तृत वर्णन (6/1146 1148) शारंगदेव ने किया है। शारंगदेव के विवरणानुसार दुंदुभी वाद्य एक अंगी होकर इसका आकार बड़ा होता था (आकार निश्चित नहीं बताया है)। यह आम के लकड़ी से अधिकतर तैयार किया जाता था। यह एक मुखी वाद्य था। इसको अंदर से खोखला कर इसके मुख के व्यास से बड़ चमड़ को उसके किनारों पर छिद्र करके, उन छिद्रों में मे वादियां डालकर कस दिया जाता था। बड़े आकार के कारण इसकी ध्वनि बड़ी होती थी। इसका वादन कोणदार यम अथवा डंडो से किया जाता था। इसकी ध्वनि मेघ गर्जना समान घु कार स्वरूप की होती थी। इसका वादन मंगल कार्यों में, विजयपर्व पर तथा मन्दिरों में किया जाता था। ऐसा कहा जाता है कि मध्यकाल के उत्तर भाग मे उल्लेखित नक्कारा, नगाड़ा धौंसा आदि वाद्य दुंदुभी के ही समान वाद्य थे।

(8) झल्लरी —

भरत के नाट्यशास्त्र म (33/16) झल्लरी का उल्लेख भरत ने किया है। अंग और प्रत्यंग वाद्यो का उल्लेख करते हुए भरत ने झल्लरी इस वाद्य को प्रत्यंग वाद्य बताया है। अवनद्ध वाद्यो म अंग वाद्य वे वाद्य होते थे जिनकी निश्चित स्वरों मे स्थापना की जा सकती थी। प्रत्यंग वाद्य इसके विपरीत होकर इनमे विशेष (स्वरयुक्त) ग कन नहीं रहता था स्वर स्थापना नहीं होती थी, निश्चित प्रहारों की व्यवस्था नहीं थी और ना ही अक्षर उत्पन्न होते थे। प्रत्यंग वाद्यों के वादन में मार्जनाओं की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। नाट्यशास्त्र में इसके अतिरिक्त वर्णन प्राप्त नहीं है।

शारंगदेव कृत संगीत रत्नाकर' में झल्लरी को अवनद्ध वाद्यों के अन्तर्गत माना है (6/12 18)। रत्नाकर म जो झल्लरी का वर्णन मिलता है वह वर्तमान के चंग या खजरी वाद्य के समान है। इसका वजन एवं आकार सम्बंधी वर्णन (6/1137 1139) संगीत रत्नाकर के वाद्याध्याय म मिलता है। इस वाद्य का वजन शारंगदेव ने 26 पल (अर्थात वर्तमान 1 5 किलो) बताया है। यह लकड़ी की बनाई जाती थी। इसकी लम्बाई 13 अंगुल होती थी तथा इसके मुख का व्यास 18 अंगुल होता था। इसका एक ही मुख होता था। इसके अंग में (गले में) दो छिद्र होते थे जिसम से डोरी डाली जाती थी। इसका मुख चमड़े से बद्ध (मढ़ा) होता था। उसको बायें हाथ से पकड़कर दाहिने हाथ से उसका वादन करते थे। इतना ही वर्णन 'संगीत रत्नाकर' में बताया है। इसके स्वर स्थापना एवं वादन विधि का उल्लेख न होने से यह अवनद्ध वाद्य शास्त्रीय संगीत के अनुपयोगी रहा होगा ऐसा हम कह सकते है।

संगीतसार, संगीत पारिजात, संगीतो पनिषदसारोद्धार, इन ग्रंथो म भी झल्लरी का उल्लेख मिलता है।

(लकड़ी का नाम जहाँ न दिया हो वहाँ खैर या रक्त चदन को समझना चाहिये) (6/1157 1158)

(9) पटह —

पटह यह अवनद्ध वाद्य है। प्राचीन काल से इस वाद्य का उल्लेख मिलता है। वाल्मिकी रामायण, पौराणिक ग्रथो, महाभारत, उसी प्रकार मानसोल्लास भरतभाष्य, नाट्यशास्त्र, सगीत रत्नाकर आदि सगीत ग्रन्थो में इसका उल्लेख है।

महर्षि भरत ने अपने ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' में पटह वाद्य का अवनद्ध वाद्यो में प्रथम वाद्य के रूप में उल्लेख किया है (33/27)। बड़े आकार, स्वर स्थापना के लिए अनुपयोगी तथा गभीर ध्वनियुक्त होने से इसका विस्तृत वर्णन नही किया है।

'सगीत-पारिजात' ग्रन्थ में पटह को ढोलक सदृश उल्लेखित करते हुए (18 वी सदी) अहोबल ने लिखा है "पटह ढोलक इति भाषायाम", किन्तु संगीत रत्नाकर ग्रथ में (13 वी सदी) पटह को मृदग तथा मर्दल के समान मान्यता दी है तथा उसका विस्तृत वर्णन किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि भरत काल (प्राचीनकाल) तीसरी सदी से धीरे धीरे पटह सगीत में अपना स्थान प्राप्त कर शारगदेव के काल में (13 वी सदी) यह सगीत के प्रमुख अवनद्ध वाद्य के रूप में उभरकर सामने आया। 13 वी सदी के बाद, उसी तरह धीरे धीरे इस वाद्य का सगीत के क्षेत्र म महत्व कम होता चला गया।

शारगदेव ने अपने ग्रन्थ सगीत रत्नाकर में पटह का विस्तृत विवेचन किया है। शारगदेव ने इसे मार्गी एव देशी दोनों प्रकार के सगीत मे उपयोगिता की दृष्टि से मार्गी पटह एव देशी पटह के रूप में प्रस्तुत किया है। मार्गी तथा देशी पटह दोनों की रचना, वादन आदि का अलग अलग वर्णन किया है। शारगदेव के अनुसार पटह अवनद्ध वाद्य था (6/12 14)। मार्ग तथा देशी सबध के कारण पटह भी दो प्रकार के बताये है। (6/805)

(अ) मार्गीपटह — (र 6/806 817)

मार्गी पटह की लम्बाई $2\frac{1}{2}$ हाथ होती थी। यह लकड़ी का बना होकर मध्य भाग में खोखला होता था। इसके खोड़ की गुलाई (परिधी) 60 अगुल की होती थी। इसके दो मुख होते थे। मुखों की अपेक्षा अग (खोड) बीच म ■ उठा हुआ (60 अगुल से ज्यादा परिधी का) होता था। दाया मुख $11\frac{1}{2}$ अगुल तथा बाया मुख $10\frac{1}{2}$ अगुल व्यास का होता था। दाहिने मुख पर लोह का कड़ा व बाये मुख पर वेली (बारीकवाली) से बना गोल कड़ा (गजरा) बिठाते थे।

दाये मुख पर 6 माह के मरे बछड़े की खाल तथा बाये मुख पर मृत पशु की मोटी खाल को तैयार कर चमड़ा बनाने में उपयोग किया जाता था। बाये मुख तथा दाये मख के कड़ो म 7 7 छेद करके दोनों मुखों को डोरी (वादी) द्वारा कसा जाता था। इन डोरियों म 7 धातु के 4 अगुल प्रमाण के धातु के 7 छल्ले डाले जाते

(13) करटा —

'संगीत रत्नाकर' में (6/1078 1085) करटा इस वाद्य का उल्लेख शारंगदेव ने किया है। "संगीत समयसार", "संगीत मकरंद' आदि ग्रंथों में इस वाद्य का उल्लेख मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह मध्यकाल का वाद्य रहा होगा। अलग अलग पुस्तकों मे प्राप्त वर्णन से यह ज्ञात होता है कि उन्होंने इसका आकार प्रकार अलग अलग बताया है।

संगीत रत्नाकर मे इसका विस्तृत विवेचन किया गया है। उसके अनुसार करटा वाद्य का अंग (खोल) विजसार (बीज) के लकड़ी का बना होता था। इसकी लम्बाई 21 अंगुल होती थी। दो मुख होते थे। मुखों का व्यास 12 अंगुल अथवा 14 अंगुल था। इसके अंग की परिधि 40 अंगुल बताई है। दोनों मुखों पर दो कड़े होते थे ये कड़े डोरियों से अथवा चमड़ी से गूंथे होते थे। उनका घेर 42 अंगुल का होता था। इन कड़ों (गजरे) में मुखों के चमड़े को बंद कर दिया जाता था। कड़े में 14 छेद होते थे। दोनों मुखों के कड़ों में बने छेदों मे से 1—1 छिद्र छोड़ते हुए क्रमशः बद्धी डालकर दोनों मुखों (पुड़ियों) को आपस में कस दिया जाता था। इस प्रकार की बद्धी की कसाई मछली के आकार सरीखी दिखती थी तथा इस कारण कसाव भी ठीक रहता था। दोनों कड़ों के पास चमड़ी की पट्टियां बांध दी जाती थी। बजाते समय इन पट्टियों में डोरी बांधकर गले में टांगा जा सकता था अथवा कमर में बांधा जा सकता था। इसका वादन दो कुडुप्पों (लकड़ी के कोणों से) होता था। इसके पाट शारंगदेव ने करट, तिरिकि, तिरि किरि, बताये है।

(14) घट —

घट का उल्लेख प्राचीन काल से मिलता है। इस वाद्य का विस्तृत विवेचन मध्यकालीन ग्रंथों मे ही मिलता है। प्राचीन काल में पाणिनी ने अष्टाध्यायी मे (ईसा पूर्व 7 वी सदी) तथा भरत ने अपने ग्रंथ नाटयशास्त्र मे जिस दर्दर वाद्य का उल्लेख किया हैं, वह दर्दर, वाद्य घट वाद्य के समान ही था। चमड़े से मढ़े जाने वाले घट वाद्य का विकास त्रिमुखी एवं पंचमुखी घटों के रूप मे हुआ, ऐसा भी उल्लेख है। प्राचीन एवं मध्यकालीन शिल्प चित्रों मे इस प्रकार के वाद्यों का संकेत मिलता है। तामिलनाडु मे पंचमुखी वाद्य का स्वरूप देखने को मिलता है। विकास के साथ साथ यह घट बिना चमड़े से मढ़ा भी, वादन प्रयोग में आने लगा। वर्तमान मे द. भारत मे घटम के रूप में यह प्रयोग मे आता है। 'संगीतसार' ग्रंथ में माटी के बने खुले मुंह के एवं धातु से बने चमड़े से मढ़े घटों का उल्लेख है। भारतीय आदिवासी लोगों मे प्रयुक्त किये जाने वाले, मिलावु (केरल), पाबूजी के माटे (राजस्थान) घुमट (गोवा), कुडमुल (तामिलनाडु) आदि वाद्य इसी श्रेणी के वाद्य है।

'सगीत रत्नाकर" मे (6/1086, 1087) घट वाद्य का उल्लेख शारग देव ने किया। घट बडे उदर (पेट) और छोटे मुख का होता था। इसके मुख के व्यास का उल्लेख नही किया है। घट का अग चिकनी माटी का बनाकर उसे अच्छी तरह से पकाया जाता था। यह मजबूत होता था जिससे आसानी से टूटता नही था। इसके मुख पर चमडा कसकर बाध दिया जाता था। इसका वादन दोनों हाथो म किया जाता था। मदल के पाटवण ही इसके पाटवर्ण थे।

(15) ढवस —

शारगदेव के ग्रन्थ "सगीत रत्नाकर" मे (6/1091-1094) ढवस वाद्य का इस प्रकार उल्लेख है —

य०ा इसके अग के लकडी का उल्लेख न होने से यह रक्तचदन या खैर की लकडी का समझना चाहिये (6/1157 1158) इसकी लम्बाई 1 हाथ की होती थी। लकडी को अन्दर से खोखला किया जाता था। वाद्य के खोल की परिधी (गलाई) 40 अगुल प्रमाण की थी। दोनों मुखों का व्यास 12 अगुल प्रमाण का होता था। दोनों मुखो पर बारीक बही से बने कडे (गजरे) होते थे जिनमे मुख के ऊपर मढा जाने वाला चमडा बद्ध किया जाता था। कडे (गजर म) 7 छिद्र होते थे। चम युक्त (बद्ध) कडो को (पुडी को) दोनों मुखो पर बैठाकर छिद्रों म से डोरी डालकर दोनों मुख कस दिये जाते थे। वाद्य मे एक डोरी अथवा पटटी बाध दी जाती थी जिससे वाद्य को क धे पर या गल मे लटकाया जा सके। बाये मुख पर बाये हाथ स तथा दाये मुख पर कुडुप से (लकडी के कोण) वादन किया जाता था। इसम हुकार युक्त पाटवर्ण बताये है।

(16) ढक्का —

शारगदेव के ग्रन्थ 'सगीत रत्नाकर" मे (6/1095 96) ढक्का वाद्य का इस प्रकार उल्लेख है —

ढक्का लगभग ढवस के समान ही था। इसमें अन्तर केवल यह था कि ढक्का के मुखो का व्यास 13 अगुल प्रमाण का था।

(17) कुडक्का —

इसका उल्लेख "सगीत रत्ताकर", सगीतसुधा वाद्य प्रकाश आदि ग्र थो म उपलब्ध है। शारगदेव के ग्रन्थ "सगीत रत्नाकर" के (6/1097) अनुसार अगला विहीन हुडुक्का ही कुडुक्का थी। इसका वादन हाथ से एव कोण से बताया है।

(18) कुडुवा —

इस वाद्य का उल्लेख 'मानसोल्लास 'सगीत रत्नाकर', 'सगीतसुधा', सगीतसार आदि ग्रन्थों म मिलता है।

"सगीत रत्नाकर' के अनुसार इसका वणन इस प्रकार है :—(6/1098 1102) यह वाद्य विजसार (म्हालसुग) के वक्ष के लकडी का बनाया जाता था। यह बीच मे खोखला होता था। इसकी लम्बाई 21 अगुल प्रमाण की थी। दो मुख होकर दोनों का व्यास 7 अगुल प्रमाण का था। इसका आकार एक सी मुटाई का

(13) करटा —

'संगीत रत्नाकर' में (6/1078 1085) करटा इस वाद्य का उल्लेख शारंगदेव ने किया है। "संगीत समयसार", 'संगीत मकरंद' आदि ग्रंथों में इस वाद्य का उल्लेख मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह मध्यकाल का वाद्य रहा होगा। अलग अलग पुस्तकों में प्राप्त वर्णन से यह ज्ञात होता है कि उन्होंने इसका आकार प्रकार अलग अलग बताया है।

संगीत रत्नाकर में इसका विस्तृत विवेचन किया गया है। उसके अनुसार करटा वाद्य का अंग (खोड) विजसार (बीज) के लकड़ी का बना होता था। इसकी लम्बाई 21 अंगुल होती थी। दो मुख होते थे। मुखों का व्यास 12 अंगुल अथवा 14 अंगुल था। इसके अंग की परिधि 40 अंगुल बताई है। दोनों मुखों पर दो कड़े होते थे, ये कड़े डोरियों से अथवा चमड़ी से गूंथे होते थे। उनका घेर 42 अंगुल का होता था। इन कड़ों (गजरे) में मुखों पर चमड़े को मढ़ कर दिया जाता था। कड़ में 14 छेद होते थे। दोनों मुखों के कड़ों में बने छेदों में से 1—1 छिद्र छोड़ते हुए क्रमशः बद्धी डालकर दोनों मुखों (पुड़ियों) को आपस में कस दिया जाता था। इस प्रकार की बद्धी को कसाई मछली के आकार सरीखी दिखती थी तथा इस कारण कसाव भी ठीक रहता था। दोनों कड़ों के पास चमड़ी की पट्टियां बांध दी जाती थी। बजाते समय इन पट्टियों में डोरी बांधकर गले में टांगा जा सकता था अथवा कमर में बांधा जा सकता था। इसका वादन दो कुडुपों से (लकड़ी के कोणों से) होता था। इसके पाट शारंगदेव ने करट तिरिकि, तिरि किटि, बनाये है।

(14) घट —

घट का उल्लेख प्राचीन काल से मिलता है। इस वाद्य की विस्तृत विवेचन मध्यकालीन ग्रंथों में ही मिलता है। प्राचीन काल में पाणिनी ने अष्टाध्यायी में (ईसा पूर्व 7 वी सदी) तथा भरत ने अपने ग्रंथ नाट्यशास्त्र में जिस दर्दर वाद्य का उल्लेख किया हैं, वह दर्दर, वाद्य घट वाद्य के समान ही था। चमड़े से मढ़े जाने वाले घट वाद्य का विकास त्रिमुखी एवं पंचमुखी घटों के रूप में हुआ, ऐसा भी उल्लेख है। प्राचीन एवं मध्यकालीन शिल्प चित्रों में इस प्रकार के वाद्यों का संकेत मिलता है। तामिलनाडु में पंचमुखी वाद्य का स्वरूप देखने को मिलता है। विकास के साथ साथ यह घट बिना चमड़े से मढ़ा भी, वादन प्रयोग में आने लगा। वर्तमान में द. भारत में घटम के रूप में यह प्रयोग में आता है। 'संगीतसार' ग्रंथ में माटी के बने खुले मुंह के एवं धातु से बने चमड़े से मढ़े घटों का उल्लेख है। भारतीय आदिवासी लोगों में प्रयुक्त किये जाने वाले, मिलावु (केरल), पाबूजी के माट (राजस्थान) घुमट (गोवा), कुडमुल (तामिलनाडु) आदि वाद्य इसी श्रेणी के वाद्य है।

(24) सेल्लुका —

"संगीत रत्नाकर' के अनुसार (6/1132 1136) सल्लुका वाद्य का वर्णन इस प्रकार है —

यह (वाद्य) बिजसार के लकड़ी से बनाई जाती थी। इसका खोड एक से मलाई का होना था। खोड बीच में से खोखला होना था। वाद्य की लम्बाई 26 अंगुल प्रमाण होनी थी तथा वाद्य की परिधी 30 अंगुल प्रमाण होनी थी। शारंग देव ने मुखो का व्यास 10 अंगुल प्रमाण बताया है (किन्तु कुछ आचार्य इसे 11 अंगुल प्रमाण मानते थे)। मुख की अपेक्षा 1 अंगुल प्रमाण से बड़ी उद्‌ली (चमड़ी) होती थी। मखों पर चमड़ी के तांत से बने मुखों के आकार के 1 अंगुल मोटे 2 कड़ जिसमे उद्‌ली (चमड़ा) बधी हो लगाये जाते थे। इन कडो (गजरों) मे 6 6 छिद्र होते थे। इन छिद्रों में से सूत की डोरी को डालकर दोनों मुखों को अंग पर कस लिया जाता था। ये कडे मुख की अपेक्षा 1 1 अंगुल प्रमाण मे उठे हुए रहते थे। दाय मुख पर हाथ में कुडुप (वक्राकार छडी) धारण कर उससे तथा बाये मुख का बाँय हाथ से वादन किया जाता था। इस वाद्य के पाट दक्षिण मुख पर तिकार तथा वाम मुख पर म कार बताये है।

(25) भाण :—

'संगीत रत्नाकर" के (6/1140) अनुसार :—

यह वाद्य झल्लरी के वजन के आधे वजन का अर्थात $12\frac{1}{2}$ पल (लगभग 750 ग्राम) होता था। इसके खोड की परिधि (घेरा) 12 अंगुल प्रमाण होना था। बाकी सारे लक्षण झल्लरी समान होते थे।

(26) त्रिवली —

इस वाद्य का उल्लेख मानसोल्लास, संगीत रत्नाकर, संगीत सुधा, संगीत सार, वाद्य प्रकाश आदि ग्रन्थों मे मिलता है। संगीत रत्नाकर के (6/1141 1143) अनुसार —

इस वाद्य की लम्बाई एक हाथ की होती थी। यह लकड़ी से बनी तथा बीच में से खोखली होती थी। दोनों मुखों का व्यास 7 अंगुल प्रमाण का होता था। खोड या अंग इतना ही मोटा होता था कि वह हाथ मे (पंजे मे) आसानी से पकड़ में आवे। दोनों मुखो पर नरम तथा पतली चमड़ी, लोहे के (मुख के आकार के) कडों में बद्ध होती थी। इस चमड़ी मे बाहर के बाजू में 7 7 छिद्र होते थे। चमड़ी युक्त दोनों मुखों के कडे, छिद्रों में डोरी डालकर आपस मे बाँध दिये जाते थे, और मध्य पर कस दिये जाते थे। वादियो या डोरियों को मध्य के पतले भाग में ऊपर से सूत की डोरी से लपेट दिया जाता था। बीच की डोरियो मे एक डोरी इतनी लम्बी (एक हाथ) होती थी कि इससे वाद्यको आसानी से कंधे पर लटकाया जा सके। कंधे मे लटकाकर इसका वादन किया जाता था। इसमे तं दां, दों द ये वर्ण बजते थे। इसका वादन दोनों हाथों से किया जाता था।

लकडी में 8 (दाये मुख पर 4 बांये मुख पर 4) कीले गाडी जाती था। प्रत्येक मुख पर दो कीले उर्ध्वमुखी तथा दो कीले अधोमुखी होती थी। इन कीलों मुख पर 2 2 तांते बांधी जाता थी। इन तांतो द्वारा मुख पर मढ चमडे से ध्वनि उत्पन्न करने के लिये तांतों में छोटी कडियां बांध दी जाती थी। इसके शेष लक्षण हुडक्का समान समझिये। इसका वादन हाथ से तथा कुडुप (डाला की) से इसका वादन किया जाता था। इसके दोनों मुखो पर चमडा मढा रहता था। शारंगदेव के अनुसार इसके वादन में हाथ के प्रहार से ढकार और कुडुप के आघात से घट, इति पाटवर्ण बताये गये है। यह भी बताया है कि कुछ आचार्य न ग, क, घ, र, ट ये पाटवर्ण बताते है। एक बिलात लम्बी ढक्का उत्तम उससे एक अंगुल छोटी होने पर मध्यम तथा दो अंगुल छोटी होने पर कनिष्ठ ढक्का मानी जाती थी।

(22) मण्डिडक्का :—

शारंगदेव के ग्रंथ 'संगीत रत्नाकर' के अनुसार (6/1120 1125) ढक्का यही मण्डिडक्का होती थी। इसमें अंतर यह था कि मण्डिडक्का की लम्बाई 11 अंगुल प्रमाण की थी। दोनों मुखो का व्यास अंदर से (लकडी की मुटाई छोड़कर) आठ अंगुल प्रमाण का होता था। मध्यभाग की परिधी 16 अंगुल प्रमाण की होती थी। इसमें कगला नही होगा था। उसी प्रकार बीच की पटिटया नही होती थी। उत्कक्षक (ऐसी डोरी जिसके टोंक ऊपर निकले हो) तथा डोरिया बीच मे होती थी। उत्कक्षक व दोनो डोरियों को बाया अंगुठा और अंगुलियों से पकडकर, का आखरी भाग तर्जनी से दबाकर मण्डिडक्का को जांघ या घुटने पर रखा जाता था। इसके बाद बाये हाथ से इसका वादन किया जाता था। कुछ आचार्य (शारंगदेव के अनुसार) इसका वादन कुडुप से बताते हैं।

(23) ढक्कुली —

संगीत रत्नाकर ग्रंथ के (6/1126 11 31) अनुसार :—

ढक्कुली कांसा (धातु) बैल के सींग, अथवा हाथी दांत से बनाई जाती थी लम्बाई 5 अंगुल प्रमाण तथा दोनों मुखो का व्यास 5 अंगुल प्रमाण का होता था। इसके मुख पर भेड का चमडा मुखो पर कडो द्वारा लगाया जाता था। ये कडे अंग के बनावट के अनुसार (कांसा सींग या हाथी दांत के) कांसे, तांबे, या लकडी के लगाये जाते थे। वह कडो मे 5 5 छेद होते थे। इन कडो को छेदों में से डोरी पिरोकर अंग के मुखों पर कस लिया जाता था। मध्यका भाग बीच मे सूत की डोरी द्वारा इस प्रकार बधा रहता था कि वह न ज्यादा ढीला हो न ज्यादा कसा हो। डोरी पर अनामिका रखकर मध्यमा तथा तर्जनी कडे पर रखे, अंगूठा ऊपर की तरफ रहे तथा दूसरे कडे पर हो इस प्रकार हाथो को ठीक करके बजाना। सूत की डोरी जिसके टोंक पर मोम लगा हो उससे दुम दुम, आवाज कराते हुए इसका वादन होता था। कुछ आचार्य इसी ध्वनि को तु तु कहते थे। मदन निकलने वाले पाटवर्ण ही ढक्कुली के पाटवर्ण माने जाते थे।